Registration No. V-36244/2008-09 **ISSN :- 2350-0611**

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48441 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 7.23

Research Highlights

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor
Dr. Kamlesh Kumar Singh
Assistant Professor
Department of Sociology
Pt. D.D.U. Govt. Girls P.G. College
Sevapuri, Varanasi

Volume - XIII **No. - 1** **(Jan. – Mar. 2026)**

(Part – X)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Research Highlights - *A Referred Journal, Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- researchhighlights1@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Research Highlights" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2350-0611

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** United Nations Professor of Plant Physiology, Department of Plant Sciences, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Pramod Rao,** Assistant Professor, Department of Hindi, VBS Purvanchal University, Jaunpur
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

ଔ

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Shailendra Singh,** Professor and Head, Department of Sociology, J.S. University, Sikohabad, U.P.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Satyapal Yadav,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Brajesh Kumar Prasad,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Dewendra Pratap Tiwari,** Assistant Professor, Department of Political Science, Shree Lakshmi Kishori Mahavidyalaya (A Constituent Unit of BRA Bihar University, Muzaffarpur), Bihar

- **Dr. Hena Hussain,** Assistant Professor, Department of Psychology, Oriental College, Patna City (A Constituent Unit of Patliputra University, Patna), Bihar
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Vaibhav Kaithvas,** Assistant Professor, Department of Performing Art, Eklavya University, Sagar Road, Damoh, MP
- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi



EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Research Highlights,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor



CONTENTS

"Research Highlights"

➲	काशीनाथ सिंह की रचनाओं में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की यथार्थ चेतना ***डॉ. आभा त्रिपाठी*** ***ममता यादव***	01-06
➲	भगवद् गीता एवं भारतीय दर्शन के आलोक में शैक्षणिक संस्थानों में नेतृत्व एवं प्रबंधनः राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एवं भारतीय ज्ञान प्रणाली के संदर्भ में एक वैचारिक अध्ययन ***डॉ. प्रमोद जोशी*** ***राधा रमण चौबे***	07-16
➲	शिक्षा से बदलती गाँवों की तस्वीर : एक अध्ययन ***डॉ. रघुवंश कुमार सिन्हा***	17-22
➲	भारतीय राजनीति में बी. आर. अम्बेडकर का योगदान : एक ऐतिहासिक विश्लेषण ***डॉ. सुषमिता सिन्हा***	23-26
➲	बिहार में महिला शिक्षा एवं महिला विकासः संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ ***डॉ. मनीषा कुमारी*** ***सुधीर कुमार***	27-31
➲	ब्रिटिश कालीन स्थायी बन्दोबस्ती व्यवस्था का भारत के छोटानागपुर क्षेत्र में सामाजिक एवं आर्थिक प्रभाव ***शिखा रानी महतो***	32-37
➲	ग्रामीण विकास में नई कृषि रणनीति और हरित अर्थव्यवस्था की भूमिका ***सूर्य कुमार***	38-40
➲	आलस्य, पढ़ाई में ऊब, काम से जी चुराने का कारण एवं निवारण ***डॉ. सुनीता कुमारी***	41-44
➲	सोशल मीडिया और समकालीन हिंदी लेखनः स्वरूप, संवेदना और भाषा–संस्कृति का बदलता परिदृश्य ***आदर्श सिंह***	45-47
➲	मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था : कृषि, बाजार, व्यापार और राजस्व के अंतर्संबंधों का अध्ययन ***खुशबु कुमारी***	48-54
➲	पर्यावरण संरक्षण में युवाओं की भूमिका ***निहारिका सिंह***	55-57

काशीनाथ सिंह की रचनाओं में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की यथार्थ चेतना

डॉ. आभा त्रिपाठी*
ममता यादव**

शोध सारांश :–

समकालीन हिंदी कथा–साहित्य में काशीनाथ सिंह ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने मनुष्य के जीवन, उसके अंतर्द्वंद्व और सामाजिक यथार्थ को अत्यंत सहज, संवेदनशील तथा निर्भीक दृष्टि से अभिव्यक्त किया है। उनकी रचनाओं में स्त्री– पुरुष संबंध केवल प्रेम, विवाह या दांपत्य जीवन तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक मान्यताओं, लैंगिक असमानताओं, यौन नैतिकता, मानसिक संघर्षों और मानवीय संवेदनाओं से गहरे रूप में जुड़े हुए दिखाई देते हैं। प्रस्तुत शोध–पत्र में उनकी कहानियों एवं उपन्यासों के आधार पर स्त्री–पुरुष संबंधों की इसी यथार्थ चेतना का विश्लेषण किया गया है।

इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि काशीनाथ सिंह संबंधों के बाहरी स्वरूप की अपेक्षा उनके भीतर छिपे मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तनावों को अधिक महत्त्व देते हैं। 'संकट' में सैनिक राघो की दैहिक अतृप्ति के माध्यम से मानवीय कामेच्छा और उससे उत्पन्न मानसिक तनाव का यथार्थ चित्रण मिलता है। 'जरा–सी बात' वैवाहिक जीवन में विश्वास और संशय के बीच पनपने वाले भावनात्मक द्वंद्व को उजागर करती है, जबकि 'महुआचरित' स्त्री की यौनिक इच्छाओं, सामाजिक नैतिकता और तथाकथित 'यौन–शुचिता' की अवधारणा पर गंभीर प्रश्न खड़े करता है। इसी प्रकार रेहन पर रग्घू तथा कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी में दांपत्य जीवन की उपेक्षा, अकेलापन, असुरक्षा और भावनात्मक रिक्तता का अत्यंत मार्मिक चित्रण किया गया है। वहीं चायघर में मृत्यु और पायल पुरोहित जैसी रचनाएँ विधवा जीवन, सामाजिक उपेक्षा और स्त्री के शारीरिक एवं मानसिक शोषण की कठोर वास्तविकताओं को सामने लाती हैं। काशीनाथ सिंह की विशेषता यह है कि वे स्त्री और पुरुष दोनों को सामाजिक परिस्थितियों के बीच संघर्षरत मनुष्य के रूप में देखते हैं। वे किसी एक पक्ष का महिमामंडन या दोषारोपण नहीं करते, बल्कि यह दिखाते हैं कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था, सामाजिक रूढ़ियाँ और नैतिकता के दोहरे मानदंड किस प्रकार स्त्री–पुरुष संबंधों को प्रभावित करते हैं। विशेष रूप से मध्यवर्गीय समाज में स्त्री की यौनिकता, उसकी स्वतंत्रता और उसके अस्तित्व पर लगाए गए सामाजिक प्रतिबंध उनकी रचनाओं में तीखे प्रश्नों के रूप में उपस्थित होते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काशीनाथ सिंह का कथा–साहित्य स्त्री–पुरुष संबंधों की जटिलताओं, मानवीय संवेदनाओं और सामाजिक यथार्थ का सशक्त दस्तावेज है। उनकी रचनाएँ पाठक को केवल संबंधों की कहानी नहीं सुनातीं, बल्कि उन सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं पर विचार करने के लिए भी प्रेरित करती हैं जो इन संबंधों को निर्मित और नियंत्रित करती हैं। यही कारण है कि स्त्री–पुरुष संबंधों की यथार्थ चेतना को समझने की दृष्टि से उनका साहित्य आज भी अत्यंत प्रासंगिक और शोधोपयोगी सिद्ध होता है।

शब्द कुंजी :– काशीनाथ सिंह, स्त्री–पुरुष संबंध, दांपत्य जीवन, यौन चेतना, सामाजिक दबाव, स्त्री विमर्श, लैंगिक असमानता, यथार्थ चेतना।

प्रस्तावना :–

हिंदी कथा साहित्य में काशीनाथ सिंह का नाम उन रचनाकारों में लिया जाता है जिन्होंने जीवन के यथार्थ को अत्यंत सहज, संवेदनशील और निर्भीक दृष्टि से अभिव्यक्त किया है। उनका साहित्य समाज के सामान्य लोगों के जीवनानुभवों से निर्मित है। वे अपने पात्रों के माध्यम से केवल घटनाओं का वर्णन नहीं करते, बल्कि मनुष्य के भीतर चल रहे मानसिक संघर्ष, सामाजिक दबाव, पारिवारिक संबंधों की जटिलता और बदलते जीवन–मूल्यों को भी गहराई से सामने लाते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में स्त्री–पुरुष

* शोध निर्देशक, हिन्दी विभाग, सी0एम0पी0 डिग्री कॉलेज, प्रयागराज (उत्तर प्रदेश)
** शोधार्थी, हिन्दी विभाग, सी0एम0पी0 डिग्री कॉलेज, प्रयागराज (उत्तर प्रदेश)
ईमेल– mamtayadav221716@gmail.com, मो0 : 8005419574

संबंध केवल प्रेम या दांपत्य तक सीमित नहीं रहते, बल्कि वे सामाजिक संरचना, नैतिक मान्यताओं, लैंगिक असमानता और मानवीय संवेदनाओं के व्यापक संदर्भ में उभरकर सामने आते हैं।

स्त्री और पुरुष मानव समाज की दो आधारभूत इकाइयाँ हैं। इनके संबंधों पर ही परिवार और समाज की संरचना टिकी होती है। समय के साथ इन संबंधों की प्रकृति में भी परिवर्तन आया है। आधुनिक जीवन की व्यस्तता, आर्थिक प्रतिस्पर्धा, व्यक्तिवादी सोच, बदलती सामाजिक मान्यताएँ तथा पारिवारिक मूल्यों में आए बदलाव ने स्त्री–पुरुष संबंधों को पहले की अपेक्षा अधिक जटिल बना दिया है। आज संबंधों में केवल प्रेम और समर्पण ही पर्याप्त नहीं रह गए हैं, बल्कि विश्वास, समानता, भावनात्मक सुरक्षा, आत्मसम्मान तथा एक–दूसरे की व्यक्तिगत आवश्यकताओं को समझना भी उतना ही आवश्यक हो गया है। इन परिवर्तनों को काशीनाथ सिंह ने अपने कथा–साहित्य में अत्यंत स्वाभाविक और यथार्थपरक ढंग से अभिव्यक्त किया है।

काशीनाथ सिंह की कहानियों और उपन्यासों में स्त्री–पुरुष संबंधों का चित्रण किसी आदर्शवादी दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के आधार पर किया गया है। उनके पात्र अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं, असुरक्षाओं, कुंठाओं और सामाजिक मर्यादाओं के बीच निरंतर संघर्ष करते दिखाई देते हैं। कहीं दांपत्य जीवन में संवादहीनता संबंधों को कमजोर करती है, कहीं यौन–अतृप्ति मानसिक तनाव और आक्रोश को जन्म देती है, तो कहीं सामाजिक रूढ़ियाँ स्त्री के अस्तित्व और उसकी स्वतंत्रता पर कठोर नियंत्रण स्थापित करती हैं। लेखक यह भी स्पष्ट करते हैं कि संबंधों का संकट केवल व्यक्ति की कमजोरी नहीं, बल्कि उसके पीछे समाज की परंपरागत सोच और पितृसत्तात्मक व्यवस्था भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

उनकी रचनाएँ संकट, जरा–सी बात, रेहन पर रग्घू, महुआचरित, कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी, चायघर में मृत्यु तथा पायल पुरोहित स्त्री–पुरुष संबंधों के विविध रूपों को अत्यंत मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करती हैं। इन रचनाओं में प्रेम, विश्वास, संशय, दैहिक आकांक्षा, उपेक्षा, सामाजिक दबाव, लैंगिक शोषण, अकेलापन और स्त्री की अस्मिता जैसे अनेक प्रश्न एक साथ उपस्थित होते हैं। विशेष रूप से लेखक ने यह दिखाया है कि समाज में यौन शुचिता और नैतिकता के मानदंड स्त्री और पुरुष के लिए समान नहीं हैं। पुरुष की स्वतंत्रता को सहज स्वीकार कर लिया जाता है, जबकि स्त्री के जीवन पर कठोर नैतिक नियंत्रण स्थापित कर दिया जाता है। इस दोहरे सामाजिक दृष्टिकोण पर काशीनाथ सिंह ने अपनी रचनाओं के माध्यम से गंभीर प्रश्न उठाए हैं।

वर्तमान समय में जब स्त्री–अधिकार, लैंगिक समानता, वैवाहिक संबंधों में बदलती धारणाएँ और व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर व्यापक विमर्श हो रहा है, तब काशीनाथ सिंह का साहित्य और अधिक प्रासंगिक हो उठता है। उनका कथा–साहित्य यह समझने का अवसर देता है कि स्वस्थ स्त्री–पुरुष संबंध केवल सामाजिक बंधनों से नहीं, बल्कि पारस्परिक विश्वास, संवेदनशीलता, सम्मान और समानता से निर्मित होते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ साहित्यिक महत्त्व के साथ–साथ समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और नारीवादी अध्ययन की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व रखती हैं।

प्रस्तुत शोध–पत्र ''काशीनाथ की रचनाओं में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की यथार्थ चेतना'' का उद्देश्य उनके कथा–साहित्य में चित्रित स्त्री–पुरुष संबंधों के विविध पक्षों का विश्लेषण करना है। साथ ही इसमें यह समझने का प्रयास किया गया है कि लेखक ने संबंधों के भीतर मौजूद प्रेम, संघर्ष, दैहिक आकांक्षा, सामाजिक दबाव, लैंगिक असमानता तथा मानवीय संवेदनाओं को किस प्रकार यथार्थवादी दृष्टि से अभिव्यक्त किया है। यह अध्ययन न केवल काशीनाथ सिंह के साहित्य की सामाजिक प्रासंगिकता को स्पष्ट करता है, बल्कि समकालीन भारतीय समाज में स्त्री–पुरुष संबंधों की बदलती प्रकृति को समझने की दिशा में भी एक सार्थक प्रयास है।

शोध विस्तार :–

काशीनाथ सिंह का कथा–साहित्य भारतीय समाज के सामान्य जीवन से निकला हुआ साहित्य है। उनकी कहानियाँ और उपन्यास पढ़ते समय ऐसा नहीं लगता कि हम किसी काल्पनिक दुनिया में प्रवेश कर रहे हैं, बल्कि ऐसा अनुभव होता है जैसे अपने ही आसपास घटित हो रही घटनाओं और परिचित लोगों के जीवन को देख रहे हों। यही उनकी रचनात्मक शक्ति है। वे स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को किसी आदर्श या नैतिक उपदेश के रूप में नहीं, बल्कि मनुष्य के जीवन की स्वाभाविक और जटिल वास्तविकता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके यहाँ प्रेम है, आकर्षण है, दाम्पत्य है, विश्वास है, संदेह है, अकेलापन है, देह की चाह है और

सामाजिक मर्यादाओं का दबाव भी है। यही कारण है कि उनके पात्र पाठक के मन में लंबे समय तक बने रहते हैं।

काशीनाथ सिंह यह मानते हैं कि स्त्री और पुरुष का संबंध केवल सामाजिक संस्था नहीं है। यह भावनाओं, विश्वास, संवाद और शारीरिक निकटता से मिलकर बनता है। जब इन तत्वों में संतुलन बना रहता है, तब संबंध सहज और मजबूत दिखाई देते हैं; लेकिन जैसे ही इनमें असंतुलन पैदा होता है, संबंधों में तनाव और दूरी आ लगती है। उनकी अनेक रचनाएँ इसी टूटन और उसके पीछे छिपे कारणों की पड़ताल करती हैं।[1] 'संकट' कहानी इसका अत्यंत प्रभावशाली उदाहरण है। राघो एक सैनिक है, जो पूरे वर्ष कठिन परिस्थितियों में रहने के बाद कुछ दिनों की छुट्टी लेकर घर आता है। उसके मन में अपनी पत्नी के साथ समय बिताने की स्वाभाविक इच्छा है। यह कोई असामान्य आकांक्षा नहीं, बल्कि दाम्पत्य जीवन का सामान्य पक्ष है। किन्तु पत्नी के प्रसूति काल में होने के कारण उसकी यह इच्छा पूरी नहीं हो पाती। यही अधूरापन धीरे–धीरे उसके व्यवहार में दिखाई देने लगता है। वह छोटी–छोटी बातों पर झुंझला उठता है, परिवार के लोगों से उलझता है और भीतर ही भीतर घुटता रहता है।[2]

लेखक यहाँ केवल राघो के क्रोध का चित्रण नहीं करते, बल्कि उस मानसिक पीड़ा को सामने लाते हैं जिसे समाज अक्सर समझना ही नहीं चाहता। हमारे समाज में आज भी यौनिकता पर खुलकर बात करना सहज नहीं माना जाता। परिणामस्वरूप व्यक्ति अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं को दबाता रहता है और वही दबाव उसके व्यवहार में कठोरता और असंतुलन के रूप में दिखाई देता है। काशीनाथ सिंह इस कहानी के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि दाम्पत्य जीवन में भावनात्मक निकटता जितनी आवश्यक है, उतनी ही आवश्यक शारीरिक संतुष्टि भी है। दोनों में से किसी एक की उपेक्षा संबंधों को प्रभावित करती है।

इसी प्रकार 'रेहन पर रग्घू' का छब्बू पहलवान मनुष्य के भीतर मौजूद अनियंत्रित वासना और सत्ता के अहंकार का प्रतिनिधि पात्र है।[3] वह अपने सामाजिक प्रभाव और शारीरिक शक्ति के कारण स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठ समझता है। उसकी दृष्टि में स्त्री एक स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं, बल्कि उसकी इच्छाओं की पूर्ति का साधन बन जाती है। यही सोच अंततः उसके विनाश का कारण बनती है। लेखक इस पात्र के माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि जब मनुष्य अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण खो देता है, तब उसका विवेक भी समाप्त होने लगता है। ऐसी स्थिति में वह केवल स्वयं को ही नहीं, बल्कि पूरे सामाजिक वातावरण को भी प्रभावित करता है।

काशीनाथ सिंह की रचनाओं का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि वे यौनिकता को नैतिक उपदेशों के दायरे में बाँधकर नहीं देखते। वे इसे मनुष्य के जीवन का स्वाभाविक हिस्सा मानते हैं। समस्या यौनिकता में नहीं, बल्कि उस सामाजिक मानसिकता में है जो इसके बारे में खुलकर संवाद करने से बचती है और दोहरे मानदण्ड अपनाती है। यही दोहरापन उनकी कई रचनाओं में बार–बार सामने आता है। 'जरा–सी बात' इसी मनोवैज्ञानिक यथार्थ को बड़ी सादगी से प्रस्तुत करती है। नवविवाहित दम्पति नदी किनारे बैठे हैं। वातावरण प्रेम और आत्मीयता से भरा हुआ है, लेकिन पति के अतीत से जुड़ा एक साधारण–सा प्रश्न दोनों के बीच संदेह का कारण बन जाता है। पत्नी के मन में उठी शंका धीरे–धीरे उस पूरे सुंदर क्षण को नष्ट कर देती है। लेखक यहाँ यह बताना चाहते हैं कि दाम्पत्य जीवन में विश्वास सबसे बड़ी पूँजी है। जहाँ विश्वास कमजोर पड़ता है, वहाँ प्रेम भी धीरे–धीरे अपना आकर्षण खो देता है।[4]

यौन नैतिकता और सामाजिक दोहरे मानदण्डों का सबसे गहरा चित्रण 'महुआचरित' में मिलता है। महुआ आधुनिक, शिक्षित और आत्मनिर्भर युवती है। उसने अपने जीवन में शिक्षा और कैरियर को प्राथमिकता दी, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उसके भीतर भावनाएँ या दैहिक इच्छाएँ नहीं थीं। समय के साथ वह अपने अकेलेपन और भावनात्मक रिक्तता को महसूस करने लगती है। लेखक इस अनुभव को पूरी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करते हैं। वे महुआ को दोषी ठहराने के बजाय उसकी मनरूस्थिति को समझने का प्रयास करते हैं। साजिद के साथ उसके संबंध, गर्भधारण, गर्भपात और बाद में हर्षल से विवाह आदि घटनाएँ केवल व्यक्तिगत नहीं रह जातीं, बल्कि सामाजिक निर्णय का विषय बन जाती हैं। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि समाज महुआ के अतीत को उसके वर्तमान से जोड़कर देखता है, जबकि पुरुष के अतीत पर उतने कठोर प्रश्न नहीं उठाए जाते। यही भारतीय मध्यवर्गीय समाज की दोहरी नैतिकता है, जिसे काशीनाथ सिंह अत्यंत साहस के साथ उजागर करते हैं। महुआ का सबसे मजबूत पक्ष उसका आत्मसम्मान है। जब हर्षल उसके अतीत को स्वीकार नहीं कर पाता, तब वह अपराधबोध में डूबने के स्थान पर अपने जीवन और अपने निर्णयों की जिम्मेदारी स्वयं उठाती है।[5] वह यह स्पष्ट कर देती है कि स्त्री का जीवन

केवल पुरुष की स्वीकृति पर निर्भर नहीं है। यही दृष्टि महुआ को हिन्दी कथा–साहित्य की स्मरणीय स्त्री पात्रों में स्थान दिलाती है।

इन सभी रचनाओं को पढ़ने पर स्पष्ट होता है कि काशीनाथ सिंह स्त्री–पुरुष सम्बन्धों को किसी निश्चित नैतिक निष्कर्ष तक सीमित नहीं करते। वे पाठक को सोचने के लिए विवश करते हैं कि संबंधों में सबसे अधिक महत्त्व किसका है– सामाजिक प्रतिष्ठा का, परम्पराओं का या मनुष्य की संवेदनाओं का। उनकी रचनाओं का उत्तर स्पष्ट है कि यदि संबंधों में संवाद, विश्वास, सम्मान और संवेदनशीलता नहीं होगी, तो कोई भी सामाजिक व्यवस्था उन्हें लंबे समय तक जीवित नहीं रख सकती। यही उनकी स्त्री–पुरुष सम्बन्ध संबंधी यथार्थ चेतना का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

काशीनाथ सिंह के कथा–साहित्य में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे केवल प्रेम या विवाह तक सीमित नहीं रहते। उनके यहाँ संबंधों का असली चेहरा तब सामने आता है, जब उनमें संवाद कम होने लगता है, विश्वास डगमगाने लगता है और एक–दूसरे की भावनाओं को समझने की जगह औपचारिकताएँ ले लेती हैं। वे इस सच्चाई को बहुत सहज ढंग से सामने रखते हैं कि किसी भी रिश्ते की सबसे बड़ी आवश्यकता केवल साथ रहना नहीं, बल्कि एक–दूसरे की भावनात्मक जरूरतों को समझना भी है। 'कस्बा, 'जंगल और साहब की पत्नी' इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण कहानी है। मिसेज़ गोठी का जीवन बाहर से देखने पर सम्पन्न और व्यवस्थित दिखाई देता है। उनके पास किसी चीज़ की कमी नहीं है, लेकिन उनके भीतर जो खालीपन है, उसे कोई नहीं देख पाता।[6] पति अपने काम में इतने व्यस्त रहते हैं कि पत्नी की मानसिक और भावनात्मक दुनिया उनसे धीरे–धीरे दूर होती चली जाती है। यही दूरी उनके मन में असुरक्षा और संदेह को जन्म देती है। उन्हें हर समय यह डर लगा रहता है कि कहीं उनके पति का मन उनसे हट तो नहीं गया है। काशीनाथ सिंह इस कहानी में यह दिखाते हैं कि अकेलापन केवल उन लोगों की समस्या नहीं है जिनके पास साधन नहीं हैं। कई बार जीवन की सारी सुविधाएँ होने के बाद भी व्यक्ति भीतर से बेहद अकेला हो सकता है। मिसेज़ गोठी बार–बार लोगों के सामने अपने सुखी जीवन की बातें करती हैं, लेकिन उनकी यह कोशिश दरअसल स्वयं को समझाने की कोशिश है। उनके शब्दों से अधिक उनका मौन बोलता है। यही वह बिंदु है जहाँ लेखक मानवीय मन की गहरी परतों तक पहुँचते हैं।

'रेहन पर रग्घू' में संजय और सोनल का संबंध आधुनिक जीवन की बदलती मानसिकता को सामने लाता है। अमेरिका पहुँचने के बाद संजय की दुनिया तेजी से बदलने लगती है। उसके लिए सफलता, पैसा और कैरियर सबसे बड़ी प्राथमिकता बन जाते हैं। इस दौड़ में वह धीरे–धीरे अपनी पत्नी से भावनात्मक रूप से दूर होता चला जाता है। दूसरी ओर सोनल एक ऐसे रिश्ते की तलाश में है जिसमें अपनापन, विश्वास और साथ का अनुभव हो। दोनों एक ही जीवन जी रहे हैं, लेकिन उनकी ज़रूरतें और सोच अलग–अलग दिशाओं में बढ़ रही हैं।[7]

सोनल का दर्द केवल एक उपेक्षित पत्नी का दर्द नहीं है। वह उस शिक्षित स्त्री की पीड़ा है, जो आर्थिक रूप से सक्षम होने के बावजूद भावनात्मक असुरक्षा से जूझ रही है। काशीनाथ सिंह यह संकेत करते हैं कि आधुनिक जीवन ने मनुष्य को सुविधाएँ तो दी हैं, लेकिन कई बार संबंधों की ऊष्मा भी उससे छीन ली है। यदि दाम्पत्य में संवाद समाप्त हो जाए, तो साथ रहते हुए भी लोग एक–दूसरे से बहुत दूर हो जाते हैं।

स्त्री जीवन की त्रासदी का सबसे मार्मिक चित्र काशीनाथ सिंह की रचना 'चायघर में मृत्यु' में मिलता है। इस कहानी की फूआ केवल एक विधवा स्त्री नहीं हैं, बल्कि उस पूरे समाज की प्रतिनिधि हैं जिसने विधवा के जीवन को लगभग निरर्थक मान लिया है। पति की मृत्यु के बाद उनका अपना घर भी उन्हें अपनापन नहीं दे पाता। वे परिवार के बीच रहकर भी अकेली हैं। उनकी सबसे बड़ी पीड़ा यह है कि उनके जीवित रहने से किसी को कोई खुशी नहीं होती। धीरे–धीरे उनके भीतर यह भावना घर कर जाती है कि शायद उनकी मृत्यु ही सबके लिए राहत का कारण बनेगी।[8] काशीनाथ सिंह इस पूरे प्रसंग को अत्यधिक करुणा के साथ लिखते हैं, लेकिन कहीं भी अनावश्यक भावुकता का सहारा नहीं लेते। वे छोटी–छोटी घटनाओं के माध्यम से यह दिखाते हैं कि उपेक्षा मनुष्य को भीतर से कितना तोड़ देती है। फूआ का बार–बार मरने और फिर जीवित रह जाने का प्रसंग केवल कथा नहीं है, बल्कि उस सामाजिक संवेदनहीनता का प्रतीक है जिसमें जीवित व्यक्ति की अपेक्षा उसकी मृत्यु अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

इसी प्रकार 'पायल पुरोहित' में लेखक स्त्री की असुरक्षा और यौन शोषण की कठोर वास्तविकता को सामने लाते हैं।[9] सबसे अधिक पीड़ादायक बात यह है कि पायल का शोषण कोई अपरिचित व्यक्ति नहीं, बल्कि उसका अपना रिश्तेदार करता है। लेखक यहाँ यह स्पष्ट करते हैं कि स्त्री के लिए खतरा केवल बाहरी

समाज में नहीं, बल्कि परिवार और रिश्तों के भीतर भी मौजूद हो सकता है। न्याय की तलाश में भटकती पायल अंततः ऐसी परिस्थितियों में पहुँच जाती है जहाँ उसे स्वयं कठोर निर्णय लेना पड़ता है। यह कहानी केवल अपराध की कथा नहीं है, बल्कि उस व्यवस्था पर प्रश्न उठाती है जहाँ पीड़िता को ही बार–बार स्वयं को निर्दोष सिद्ध करना पड़ता है।

'महुआचरित' में स्त्री जीवन की पीड़ा एक अलग रूप में सामने आती है। महुआ का संघर्ष किसी व्यक्ति से अधिक समाज की उस मानसिकता से है, जो स्त्री के चरित्र का मूल्यांकन उसके अतीत के आधार पर करती है। लेखक यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि पुरुष के जीवन में अतीत होने पर समाज उसे सहज रूप से स्वीकार कर लेता है, तो वही समाज स्त्री के साथ अलग व्यवहार क्यों करता है? महुआ इस दोहरे मापदंड को चुपचाप स्वीकार करती। वह अपने जीवन, अपने निर्णय और अपने मातृत्व पर स्वयं का अधिकार घोषित करती है। यही उसका सबसे बड़ा प्रतिरोध है।

काशीनाथ सिंह की स्त्री पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे केवल परिस्थितियों का बोझ उठाने वाली पात्र नहीं हैं। वे सोचती हैं, निर्णय लेती हैं, विरोध करती हैं और अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्ष भी करती हैं। महुआ इसका सबसे सशक्त उदाहरण है। वहीं फूआ और मिसेज़ गोठी जैसी स्त्रियाँ उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसने अपने भीतर के दुख को चुपचाप जीना सीख लिया था। इस प्रकार लेखक स्त्री जीवन के बदलते स्वरूप को भी बड़ी संवेदनशीलता से सामने लाते हैं।

समग्र रूप से देखा जाए तो काशीनाथ सिंह की रचनाओं में स्त्री–पुरुष सम्बन्ध किसी आदर्श संसार की तस्वीर नहीं हैं। वे जीवन की उन्हीं परिस्थितियों से बने हैं जिनसे सामान्य मनुष्य प्रतिदिन गुजरता है। उनके पात्र प्रेम करते हैं, गलती करते हैं, टूटते हैं, संभलते हैं और अपने संबंधों को बचाने का प्रयास भी करते हैं। यही मानवीय सच्चाई उनकी रचनाओं को विशिष्ट बनाती है। इस प्रकार काशीनाथ सिंह का कथा–साहित्य यह स्थापित करता है कि स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की मजबूती केवल सामाजिक स्वीकृति या वैवाहिक बंधन से नहीं आती, बल्कि विश्वास, संवाद, संवेदनशीलता और समान सम्मान से बनती है। जहाँ ये तत्व कमजोर पड़ते हैं, वहाँ संबंध धीरे–धीरे अपना अर्थ खोने लगते हैं। यही उनकी रचनाओं में व्यक्त स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की यथार्थ चेतना का मूल स्वर है, जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना उनके लेखन के समय था।

शोध निष्कर्ष :–

काशीनाथ सिंह की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने स्त्री–पुरुष संबंधों को केवल प्रेम, विवाह अथवा दांपत्य जीवन की सीमाओं में नहीं बाँधा है, बल्कि उन्हें सामाजिक यथार्थ, मानवीय मनोविज्ञान और बदलते जीवन–मूल्यों के व्यापक संदर्भ में देखा है। उनकी कहानियों और उपन्यासों में संबंधों की ऊष्मा के साथ–साथ उनकी जटिलताएँ, विडंबनाएँ और टूटन भी समान रूप से उपस्थित हैं। यही कारण है कि उनके पात्र आदर्श नहीं, बल्कि हमारे समाज के बीच जीने वाले सामान्य मनुष्य प्रतीत होते हैं। उनकी रचनाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि कामभावना मनुष्य की सहज और स्वाभाविक आवश्यकता है। जब इसकी उपेक्षा होती है या इसे सामाजिक वर्जनाओं के कारण दबाया जाता है, तब व्यक्ति के व्यवहार, मानसिक स्थिति और पारिवारिक जीवन पर उसका गहरा प्रभाव पड़ता है। 'संकट', 'रेहन पर रग्घू' और 'महुआचरित' जैसी रचनाएँ यह दर्शाती हैं कि यौनिकता को लेकर समाज में बनी रूढ़ धारणाएँ व्यक्ति को भीतर से कुंठित कर देती हैं। विशेष रूप से स्त्री को आज भी अपनी इच्छाओं और भावनाओं के लिए कठोर सामाजिक निर्णयों का सामना करना पड़ता है, जबकि पुरुष के प्रति समाज अपेक्षाकृत अधिक उदार दिखाई देता है।

काशीनाथ सिंह ने दांपत्य जीवन की उन समस्याओं को भी गंभीरता से चित्रित किया है, जो बाहरी रूप से दिखाई नहीं देतीं। संवादहीनता, संदेह, उपेक्षा, अकेलापन और भावनात्मक दूरी धीरे–धीरे संबंधों को खोखला बना देती है। 'कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी' तथा 'रेहन पर रग्घू' में यह तथ्य अत्यंत प्रभावी ढंग से उभरकर सामने आता है कि केवल आर्थिक सम्पन्नता या सामाजिक प्रतिष्ठा वैवाहिक सुख की गारंटी नहीं हो सकती। पति–पत्नी के बीच विश्वास, आत्मीयता और पारस्परिक सम्मान ही संबंधों को स्थायी आधार प्रदान करते हैं।

इसी प्रकार 'चायघर में मृत्यु', 'पायल पुरोहित' और 'महुआचरित' जैसी रचनाओं में स्त्री जीवन की पीड़ा, सामाजिक उपेक्षा, लैंगिक शोषण तथा यौन–शुचिता से जुड़े दोहरे मानदंडों का अत्यंत संवेदनशील चित्रण मिलता है। लेखक इन प्रश्नों का प्रत्यक्ष समाधान नहीं देते, बल्कि ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित करते हैं जिनके माध्यम से पाठक स्वयं समाज की विसंगतियों पर विचार करने के लिए प्रेरित होता है। उनकी रचनाएँ

यह संकेत करती हैं कि स्त्री–पुरुष संबंधों की वास्तविक गरिमा समानता, विश्वास, संवेदनशीलता और पारस्परिक सम्मान में निहित है, न कि रूढ़ सामाजिक मान्यताओं और बाहरी नैतिकता में।

अंततः कहा जा सकता है कि काशीनाथ सिंह की रचनाओं में स्त्री–पुरुष संबंधों की यथार्थ चेतना समकालीन भारतीय समाज का सजीव दस्तावेज़ है। उन्होंने संबंधों की जटिलताओं को बिना किसी कृत्रिम आदर्शवाद के अत्यंत स्वाभाविक और जीवनानुभव से जुड़ी भाषा में अभिव्यक्त किया है। यही उनकी कथा–दृष्टि की सबसे बड़ी शक्ति है, जो उनकी रचनाओं को आज भी प्रासंगिक बनाती है और पाठक को समाज, संबंधों तथा मानवीय संवेदनाओं पर नए सिरे से विचार करने के लिए प्रेरित करती है।

संदर्भ सूची

1. लोटलीकर, संदीप सो0, काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य : सामाजिक तथा सांस्कृतिक अनुशीलन, गोवा विश्वविद्यालय, गोवा, 2022, पृ0 88
2. सिंह, काशीनाथ, कहानी उपखान (समग्र कहानियाँ), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ0 29
3. सिंह, काशीनाथ, रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ0 72
4. लोटलीकर, संदीप सो0, काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य : सामाजिक तथा सांस्कृतिक अनुशीलन, गोवा विश्वविद्यालय, गोवा, 2022, पृ0 101–102
5. सिंह, काशीनाथ, महुआ चरित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ0 100
6. सिंह, काशीनाथ, कहानी उपखान (समग्र कहानियां), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ0 44
7. सिंह, काशीनाथ, रेहन पर रग्घू, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ0 110
8. सिंह, काशीनाथ, कहानी उपखान (समग्र कहानियां), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ0 36, 37
9. लोटलीकर, संदीप सो0, काशीनाथ सिंह का कथा साहित्य : सामाजिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन, गोवा विश्वविद्यालय, गोवा, पृ0 111

भगवद् गीता एवं भारतीय दर्शन के आलोक में शैक्षणिक संस्थानों में नेतृत्व एवं प्रबंधनः राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एवं भारतीय ज्ञान प्रणाली के संदर्भ में एक वैचारिक अध्ययन

डॉ. प्रमोद जोशी*
राधा रमण चौबे**

सारांश

वर्तमान वैश्विक शैक्षिक परिदृश्य में नेतृत्व एवं प्रबंधन की अवधारणाएँ केवल प्रशासनिक दक्षता तक सीमित नहीं रह गई हैं, बल्कि नैतिकता, उत्तरदायित्व, सहभागिता तथा समग्र विकास जैसे मानवीय मूल्यों से भी गहराई से जुड़ गई है। इस संदर्भ में भारतीय ज्ञान परम्परा, विशेषकर *श्रीमद्भगवद् गीता*, नेतृत्व एवं प्रबंधन के लिए एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रस्तुत करती है। भगवद् गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म, समत्व, स्वधर्म, आत्म-नेतृत्व तथा लोकसंग्रह जैसे सिद्धान्त व्यक्ति को उत्तरदायी, मूल्य-आधारित तथा लोकहितकारी नेतृत्व की ओर प्रेरित करते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय ज्ञान प्रणाली को समकालीन शिक्षा व्यवस्था में समाहित करते हुए समग्र, नैतिक एवं विद्यार्थी-केंद्रित शिक्षा पर बल देती है। इन दोनों दृष्टियों का समन्वय शैक्षणिक संस्थानों के नेतृत्व एवं प्रबंधन के लिए एक नवीन वैचारिक आधार प्रदान करता है।

प्रस्तुत अध्ययन गुणात्मक एवं वैचारिक अनुसंधान पर आधारित है। अध्ययन में भगवद् गीता, भारतीय दर्शन, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 तथा नेतृत्व एवं प्रबंधन से संबंधित चयनित शोध-साहित्य का दस्तावेज़ीय एवं विषयवस्तु विश्लेषण किया गया है। उपलब्ध साहित्य के समालोचनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश पूर्ववर्ती अध्ययन भगवद् गीता के सिद्धान्तों को कॉर्पोरेट नेतृत्व एवं व्यवसाय प्रबंधन से जोड़ते हैं, जबकि शैक्षणिक संस्थानों के नेतृत्व एवं प्रबंधन के संदर्भ में इन सिद्धान्तों का समेकित विश्लेषण अपेक्षाकृत सीमित है।

अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि भारतीय दर्शन में नेतृत्व का आधार अधिकार नहीं, बल्कि धर्म, कर्तव्य, आत्मसंयम और लोककल्याण है। भगवद् गीता इन सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप प्रदान करते हुए नेतृत्व को नैतिक उत्तरदायित्व, विवेकपूर्ण निर्णय-निर्माण तथा आदर्श आचरण से जोड़ती है। शैक्षणिक संस्थानों में इन सिद्धान्तों का अनुप्रयोग शिक्षक नेतृत्व, संस्थागत संस्कृति, सहभागी प्रशासन, नैतिक निर्णय-निर्माण तथा विद्यार्थियों के समग्र विकास को सुदृढ़ कर सकता है। अध्ययन का निष्कर्ष है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के आलोक में भारतीय ज्ञान प्रणाली एवं भगवद् गीता पर आधारित नेतृत्व-दृष्टि शिक्षा संस्थानों में उत्तरदायी, समावेशी एवं मूल्य-आधारित प्रबंधन के विकास के लिए एक प्रभावी वैचारिक आधार प्रदान करती है।

मुख्य शब्द: भगवद् गीता , भारतीय दर्शन, नेतृत्व, प्रबंधन, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, भारतीय ज्ञान प्रणाली, शैक्षणिक संस्थान।

1. भूमिका

इक्कीसवीं शताब्दी में शिक्षा व्यवस्था तीव्र सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों के दौर से गुजर रही है। इन परिवर्तनों ने शैक्षणिक संस्थानों के नेतृत्व एवं प्रबंधन की भूमिका को पहले की अपेक्षा अधिक जटिल एवं उत्तरदायित्वपूर्ण बना दिया है। आज किसी भी शैक्षणिक संस्था की सफलता केवल उसके भौतिक संसाधनों, प्रशासनिक संरचना अथवा परीक्षा परिणामों से निर्धारित नहीं होती, बल्कि इस बात से भी निर्धारित होती है कि उसका नेतृत्व संस्थागत मूल्यों, नैतिक निर्णय-निर्माण, शिक्षक सशक्तीकरण तथा विद्यार्थियों के समग्र विकास को किस सीमा तक प्रोत्साहित करता है। परिणामस्वरूप समकालीन शिक्षा-विमर्श में नेतृत्व को केवल प्रशासनिक दायित्व न मानकर मूल्य-आधारित, सहभागी तथा परिवर्तनकारी प्रक्रिया के रूप में देखा जाने लगा है।

आधुनिक नेतृत्व सिद्धान्तों ने प्रभावी नेतृत्व के अनेक आयामों-जैसे परिवर्तनकारी नेतृत्व, सेवाभावी नेतृत्व, नैतिक नेतृत्व को विकसित किया है। इसके बावजूद वैश्विक स्तर पर यह अनुभव किया गया है कि केवल प्रबंधकीय दक्षता किसी संस्था की दीर्घकालिक सफलता सुनिश्चित नहीं कर सकती। नेतृत्व में नैतिकता, आत्म-जागरूकता, उत्तरदायित्व तथा मानवीय संवेदनशीलता जैसे गुणों का

* सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र 442001
pramodjoshi@hindivishwa.ac.in
** शोधार्थी, शिक्षक शिक्षा संकाय, हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय महेंद्रगढ़, हरियाणा 123031
radharamanchaubey36@gmail.com

समावेशन भी समान रूप से आवश्यक है। इसी कारण हाल के वर्षों में भारतीय ज्ञान परम्परा, विशेषकर **श्रीमद्भगवद् गीता**, को नेतृत्व एवं प्रबंधन के वैकल्पिक दार्शनिक आधार के रूप में पुनः देखा जाने लगा है। उपलब्ध शोधों में यह प्रतिपादित किया गया है कि भगवद् गीता नेतृत्व को शक्ति अथवा नियंत्रण की प्रक्रिया के रूप में नहीं, बल्कि आत्म-नेतृत्व, कर्तव्य, नैतिकता तथा लोककल्याण पर आधारित उत्तरदायी प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करती है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन नहीं, बल्कि व्यक्ति के बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक विकास को सुनिश्चित करना रहा है। वैदिक परम्परा, उपनिषद, भगवद् गीता तथा गुरुकुल व्यवस्था में शिक्षा को जीवन-निर्माण की प्रक्रिया माना गया है, जिसमें शिक्षक केवल ज्ञानदाता नहीं, बल्कि मार्गदर्शक, प्रेरक और आदर्श नेतृत्वकर्ता की भूमिका निभाता है। तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला तथा वल्लभी जैसे प्राचीन भारतीय शिक्षा केन्द्रों में भी प्रशासनिक व्यवस्था का आधार केवल संगठनात्मक नियंत्रण नहीं था, बल्कि अनुशासन, उत्तरदायित्व, सेवा तथा ज्ञान-संस्कृति का संरक्षण था। इस दृष्टि से भारतीय शिक्षा-दर्शन में नेतृत्व एवं प्रबंधन का स्वरूप मूलतः मूल्य-आधारित एवं समाजोन्मुख रहा है।

भगवद् गीता भारतीय दार्शनिक परम्परा का ऐसा ग्रन्थ है जिसमें नेतृत्व, निर्णय-निर्माण, कर्तव्य, आत्मसंयम तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का अत्यन्त व्यवस्थित प्रतिपादन मिलता है। महाभारत के युद्धक्षेत्र में अर्जुन के नैतिक द्वन्द्व का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण केवल युद्ध का उपदेश नहीं देते, बल्कि व्यक्ति के कर्तव्य, विवेक और उत्तरदायित्व पर आधारित नेतृत्व-दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। इसी सन्दर्भ में वे कहते हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(भगवद् गीता, 2.47)

यह श्लोक नेतृत्व के उस मूल सिद्धान्त को स्थापित करता है जिसके अनुसार नेतृत्वकर्ता का प्रथम दायित्व अपने कर्तव्य का निष्ठापूर्वक निर्वहन करना है, न कि व्यक्तिगत लाभ अथवा परिणाम के प्रति आसक्त होना। इसी प्रकार गीता में आदर्श नेतृत्व का स्वरूप निम्न श्लोक में व्यक्त किया गया है-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(भगवद् गीता, 3.21)

इस श्लोक में नेतृत्व का आधार *आदर्श आचरण* को माना गया है। शैक्षणिक संस्थानों के संदर्भ में यह विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि शिक्षक, प्राचार्य तथा विश्वविद्यालय प्रशासक अपने व्यवहार, निर्णय तथा कार्य-संस्कृति के माध्यम से विद्यार्थियों और सहकर्मियों के लिए मानक स्थापित करते हैं।

पिछले कुछ वर्षों में भगवद् गीता पर आधारित नेतृत्व एवं प्रबंधन से संबंधित शोधों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। उपलब्ध अध्ययनों में कर्मयोग, समत्व, आत्म-नेतृत्व, सेवाभावी नेतृत्व, नैतिक नेतृत्व तथा परिवर्तनकारी नेतृत्व जैसी अवधारणाओं का विश्लेषण किया गया है। साथ ही, भारतीय ज्ञान प्रणाली के संदर्भ में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 शिक्षा को भारतीय दार्शनिक परम्परा से जोड़ते हुए मूल्य-आधारित नेतृत्व और समग्र शिक्षा की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण पहल है। तथापि अधिकांश अध्ययन व्यवसाय प्रबंधन अथवा सामान्य संगठनात्मक व्यवहार तक सीमित हैं। शैक्षणिक संस्थानों के नेतृत्व एवं प्रबंधन के संदर्भ में भगवद् गीता, भारतीय दर्शन, भारतीय ज्ञान प्रणाली तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के मध्य अन्तर्सम्बन्धों का समेकित विश्लेषण अभी अपेक्षाकृत सीमित है।

इसी शोध-अंतर को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन भगवद् गीता एवं भारतीय दर्शन में निहित नेतृत्व एवं प्रबंधन संबंधी सिद्धान्तों का वैचारिक विश्लेषण करता है तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एवं भारतीय ज्ञान प्रणाली के संदर्भ में उनकी शैक्षणिक प्रासंगिकता का परीक्षण करता है। अध्ययन का उद्देश्य केवल दार्शनिक अवधारणाओं का वर्णन करना नहीं, बल्कि यह स्पष्ट करना है कि भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रतिपादित नेतृत्व-दृष्टि समकालीन विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में नैतिक, उत्तरदायी एवं मूल्य-आधारित नेतृत्व एवं प्रबंधन के विकास में किस प्रकार सार्थक योगदान दे सकती है।

2. अनुसंधान पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन गुणात्मक एवं वैचारिक अनुसंधान की प्रकृति का है। अध्ययन का उद्देश्य भगवद् गीता एवं भारतीय दर्शन में प्रतिपादित नेतृत्व एवं प्रबंधन संबंधी सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 तथा भारतीय ज्ञान प्रणाली के संदर्भ में

उनकी शैक्षणिक प्रासंगिकता का परीक्षण करना है। यह अध्ययन अनुभवजन्य आँकड़ों पर आधारित न होकर व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का अनुसरण करता है।

अध्ययन के लिए आवश्यक सामग्री का संकलन मुख्यतः द्वितीयक स्रोतों से किया गया है। प्राथमिक स्रोत के रूप में **श्रीमद्भगवद् गीता** का उपयोग किया गया है, क्योंकि अध्ययन का दार्शनिक आधार गीता में प्रतिपादित *धर्म*, *निष्काम कर्म*, *समत्व*, *स्वधर्म*, *लोकसंग्रह* तथा *आत्म-नेतृत्व* जैसी अवधारणाएँ हैं। द्वितीयक स्रोतों के अंतर्गत भगवद् गीता, भारतीय दर्शन, भारतीय ज्ञान प्रणाली, नेतृत्व, प्रबंधन तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 से संबंधित सहकर्मी-समीक्षित शोध-पत्रों, पुस्तकों एवं नीतिगत दस्तावेज़ों का अध्ययन किया गया। विशेष रूप से उन अध्ययनों का चयन किया गया जिनमें भगवद् गीता के नेतृत्व सिद्धान्तों, भारतीय ज्ञान प्रणाली तथा समकालीन नेतृत्व एवं प्रबंधन के मध्य संबंधों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

अध्ययन में **दस्तावेज़ विश्लेषण** तथा **विषयवस्तु विश्लेषण** को प्रमुख अनुसंधान तकनीकों के रूप में अपनाया गया है। चयनित साहित्य का क्रमबद्ध अध्ययन करते हुए नेतृत्व एवं प्रबंधन से संबंधित प्रमुख विषयों जैसे कि कर्तव्यनिष्ठा, नैतिक नेतृत्व, आत्म-नेतृत्व, निर्णय-निर्माण, उत्तरदायित्व तथा लोककल्याण की पहचान की गई। इसके उपरांत इन अवधारणाओं का भारतीय दर्शन, भगवद् गीता तथा समकालीन शैक्षणिक नेतृत्व के संदर्भ में तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया।

भगवद् गीता के श्लोकों की व्याख्या के लिए **हरमेन्युटिक** दृष्टिकोण का उपयोग किया गया है। इस दृष्टिकोण के माध्यम से श्लोकों का केवल भाषिक अर्थ प्रस्तुत नहीं किया गया, बल्कि उनके दार्शनिक आशय तथा शैक्षणिक नेतृत्व एवं प्रबंधन के संदर्भ में निहितार्थों का विश्लेषण किया गया। साथ ही, उपलब्ध शोध-साहित्य के समालोचनात्मक अध्ययन के आधार पर यह समझने का प्रयास किया गया है। आधुनिक नेतृत्व-विमर्श में भगवद् गीता के सिद्धान्तों की व्याख्या किस प्रकार की गई है तथा उनमें शिक्षा क्षेत्र के लिए कौन-सी संभावनाएँ निहित हैं। हाल के अध्ययनों में भी भगवद् गीता के सिद्धान्तों को नैतिक नेतृत्व, सेवाभावी नेतृत्व, परिवर्तनकारी नेतृत्व तथा भारतीय ज्ञान प्रणाली के साथ जोड़ते हुए शिक्षा एवं प्रबंधन में उनकी उपयोगिता पर बल दिया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य केवल उपलब्ध साहित्य का वर्णन करना नहीं, बल्कि भारतीय दर्शन, भगवद् गीता, भारतीय ज्ञान प्रणाली तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के मध्य अंतर्संबंधों का विश्लेषण करते हुए शैक्षणिक संस्थानों में नेतृत्व एवं प्रबंधन के लिए एक समेकित वैचारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है।

3. साहित्य समीक्षा एवं शोध-अंतर

3.1 भगवद् गीता एवं नेतृत्व : समकालीन शोधों का विश्लेषण

पिछले दो दशकों में नेतृत्व अध्ययन के क्षेत्र में नैतिकता, आत्म-जागरूकता तथा मूल्य-आधारित नेतृत्व को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। इसी क्रम में भगवद् गीता को नेतृत्व एवं प्रबंधन के एक वैकल्पिक दार्शनिक आधार के रूप में पुनः स्थापित करने का प्रयास किया गया है। उपलब्ध शोध साहित्य से स्पष्ट होता है कि गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म, समत्व, स्वधर्म, आत्मसंयम तथा लोकसंग्रह जैसे सिद्धान्त नेतृत्व को केवल संगठनात्मक नियंत्रण की प्रक्रिया नहीं मानते, बल्कि उसे नैतिक उत्तरदायित्व, आत्म-विकास तथा लोकहित पर आधारित मानवीय प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

उपलब्ध अध्ययनों में यह प्रतिपादित किया गया है कि भगवद् गीता का नेतृत्व-दर्शन व्यक्ति के आन्तरिक विकास को नेतृत्व की आधारशिला मानता है। नेतृत्वकर्ता की प्रभावशीलता उसके पद अथवा अधिकार से नहीं, बल्कि उसके चरित्र, कर्तव्यनिष्ठा, आत्म-अनुशासन तथा निर्णय क्षमता से निर्धारित होती है। इस दृष्टि से गीता नेतृत्व को बाह्य नियंत्रण की अपेक्षा आत्म-नेतृत्व एवं नैतिक नेतृत्व की प्रक्रिया के रूप में स्थापित करती है। आधुनिक नेतृत्व सिद्धान्तों-विशेषकर सेवाभावी नेतृत्व, परिवर्तनकारी नेतृत्व तथा प्रामाणिक नेतृत्व के साथ भगवद् गीता के इन सिद्धान्तों की वैचारिक समानताओं को भी विभिन्न अध्ययनों में रेखांकित किया गया है।

नायक (2018) ने भगवद् गीता के नेतृत्व-दर्शन का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया कि प्रभावी नेतृत्व का आधार आत्मसंयम, निष्काम कर्म, नैतिक निर्णय तथा उत्तरदायित्व है। अध्ययन में यह प्रतिपादित किया गया है कि नेतृत्वकर्ता यदि व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर कर्तव्यपरायणता के साथ कार्य करता है, तो वह संगठन में विश्वास, सहयोग तथा दीर्घकालिक विकास की संस्कृति का निर्माण कर सकता है। यद्यपि यह अध्ययन नेतृत्व के दार्शनिक पक्ष को सुदृढ़ रूप से प्रस्तुत करता है, तथापि इसका प्रमुख फोकस संगठनात्मक नेतृत्व पर है; शिक्षा संस्थानों के संदर्भ में इसकी व्याख्या अपेक्षाकृत सीमित है।

इसी प्रकार अन्य अध्ययनों में भगवद् गीता के तेरहवें अध्याय में वर्णित विनम्रता, आत्मसंयम, अहिंसा, क्षमा तथा समत्व जैसे मूल्यों को प्रभावी नेतृत्व के अनिवार्य गुणों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन अध्ययनों के अनुसार नेतृत्व का वास्तविक उद्देश्य केवल लक्ष्य प्राप्त करना नहीं, बल्कि ऐसी संगठनात्मक संस्कृति विकसित करना है जिसमें विश्वास, सहयोग तथा नैतिक उत्तरदायित्व को

समान महत्त्व प्राप्त हो। उपलब्ध साहित्य यह भी इंगित करता है कि नेतृत्व की गुणवत्ता का संबंध केवल प्रशासनिक दक्षता से नहीं, बल्कि नेतृत्वकर्ता की आन्तरिक परिपक्वता और मूल्यबोध से भी है।

उपलब्ध साहित्य का समग्र विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि भगवद् गीता नेतृत्व को व्यक्ति-केंद्रित न रखकर समाज-केंद्रित दृष्टिकोण प्रदान करती है। तथापि अधिकांश अध्ययन कॉर्पोरेट नेतृत्व, संगठनात्मक व्यवहार अथवा सामान्य प्रबंधन तक सीमित हैं। विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के नेतृत्व, शिक्षक-व्यावसायिकता तथा शैक्षणिक प्रशासन के संदर्भ में इन सिद्धान्तों का व्यवस्थित विश्लेषण अपेक्षाकृत कम उपलब्ध है। यही स्थिति वर्तमान अध्ययन की आवश्यकता को रेखांकित करती है, क्योंकि यह भगवद् गीता के नेतृत्व-दर्शन को विशेष रूप से शैक्षणिक संस्थानों के संदर्भ में पुनर्व्याख्यायित करने का प्रयास करता है।

3.2 भगवद् गीता एवं प्रबंधन : समकालीन अध्ययन

प्रबंधन की समकालीन अवधारणा केवल संसाधनों के नियोजन, संगठन तथा नियंत्रण तक सीमित नहीं है, बल्कि नैतिकता, मानवीय मूल्यों, उत्तरदायित्व तथा संगठनात्मक संस्कृति के निर्माण से भी जुड़ी हुई है। इसी कारण हाल के वर्षों में भगवद् गीता के प्रबंधन-दर्शन पर आधारित अध्ययनों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। उपलब्ध साहित्य से स्पष्ट होता है कि गीता प्रबंधन को केवल प्रशासनिक दक्षता का विषय नहीं मानती, बल्कि व्यक्ति, संगठन और समाज के मध्य संतुलित संबंध स्थापित करने वाली नैतिक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करती है। कर्मयोग, समत्व, आत्मसंयम तथा लोककल्याण जैसे सिद्धान्त प्रभावी प्रबंधन के मूल आधार माने गए हैं।

समीक्षित अध्ययनों में यह प्रतिपादित किया गया है कि भगवद् गीता का प्रबंधन-दर्शन निर्णय-निर्माण, उत्तरदायित्व, संगठनात्मक प्रतिबद्धता तथा कार्य-संतोष जैसे आयामों को नैतिक दृष्टिकोण से समझने का अवसर प्रदान करता है। विशेष रूप से निष्काम कर्म का सिद्धान्त प्रबंधक को परिणामों के प्रति अत्यधिक आसक्ति से मुक्त होकर गुणवत्ता, पारदर्शिता तथा उत्तरदायित्व पर आधारित कार्य-संस्कृति विकसित करने की प्रेरणा देता है। इसी प्रकार समत्व का सिद्धान्त जटिल परिस्थितियों में संतुलित एवं निष्पक्ष निर्णय लेने की क्षमता को सुदृढ़ करता है, जबकि आत्म-नेतृत्व नेतृत्वकर्ता के निरंतर आत्म-विकास और आत्म-अनुशासन पर बल देता है।

उपलब्ध शोध यह भी इंगित करते हैं कि भगवद् गीता के प्रबंधन सिद्धान्तों का प्रयोग मुख्यतः कॉर्पोरेट क्षेत्र, औद्योगिक संगठनों तथा व्यवसाय प्रबंधन के संदर्भ में किया गया है। इन अध्ययनों में नैतिक नेतृत्व, सेवाभावी नेतृत्व, संगठनात्मक व्यवहार तथा मानव संसाधन विकास जैसे विषयों पर पर्याप्त चर्चा मिलती है। इसके विपरीत शैक्षणिक संस्थानों के प्रबंधन, शैक्षिक प्रशासन, शिक्षक-नेतृत्व तथा संस्थागत संस्कृति के संदर्भ में इन सिद्धान्तों का व्यवस्थित विश्लेषण अपेक्षाकृत सीमित दिखाई देता है। विशेषकर विद्यालयी एवं उच्च शिक्षा संस्थानों की प्रशासनिक चुनौतियों के समाधान में भगवद् गीता आधारित प्रबंधन-दृष्टि की संभावनाओं पर अभी और गहन अध्ययन अपेक्षित हैं।

समग्रतः उपलब्ध साहित्य यह स्पष्ट करता है कि भगवद् गीता आधुनिक प्रबंधन को एक नैतिक एवं मानवीय आधार प्रदान करती है। तथापि शिक्षा क्षेत्र के संदर्भ में इसके अनुप्रयोग पर अभी पर्याप्त वैचारिक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए वर्तमान अध्ययन भारतीय दर्शन, भगवद् गीता तथा भारतीय ज्ञान प्रणाली के आलोक में शैक्षणिक संस्थानों के नेतृत्व एवं प्रबंधन की एक समेकित वैचारिक रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

3.3 भारतीय ज्ञान प्रणाली, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एवं शैक्षणिक नेतृत्व

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय शिक्षा व्यवस्था को भारतीय ज्ञान परम्परा के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक आधारों से जोड़ते हुए समग्र, बहुविषयक तथा मूल्य-आधारित शिक्षा पर विशेष बल देती है। नीति में यह स्पष्ट किया गया है कि भारतीय ज्ञान प्रणाली केवल प्राचीन ज्ञान का संग्रह नहीं है, बल्कि यह ज्ञान, विज्ञान, जीवन-दर्शन, नैतिकता तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का समन्वित ढाँचा प्रस्तुत करती है। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान प्रणाली का उद्देश्य विद्यार्थियों में आलोचनात्मक चिंतन, नैतिक निर्णय क्षमता, सामाजिक संवेदनशीलता तथा उत्तरदायी नागरिकता का विकास करना है।

उपलब्ध अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि भारतीय ज्ञान प्रणाली को आधुनिक शिक्षा में समाहित करने का उद्देश्य केवल पारम्परिक ज्ञान का संरक्षण नहीं है, बल्कि समकालीन शैक्षिक चुनौतियों के समाधान के लिए भारतीय दार्शनिक दृष्टियों का रचनात्मक उपयोग करना भी है। भारतीय ज्ञान परम्परा में *धर्म, अहिंसा, समुदाय-केंद्रित सोच, प्रकृति के साथ संतुलन, योग* तथा *तर्कशील चिंतन* जैसी अवधारणाएँ शिक्षा को व्यक्ति के समग्र विकास से जोड़ती हैं। यही कारण है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय भाषाओं, भारतीय दर्शन, नैतिक शिक्षा तथा भारतीय ज्ञान परम्परा को शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर समावेशित करने की अनुशंसा करती है।

हाल के शोधों में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि भगवद् गीता भारतीय ज्ञान प्रणाली का एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक आधार है, जो नेतृत्व, नैतिकता और कर्तव्यपरायणता की ऐसी अवधारणा प्रस्तुत करती है, जो राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के उद्देश्यों के साथ

सामंजस्य स्थापित करती है। *निष्काम कर्म, धर्म, आत्मसंयम* तथा *लोककल्याण* जैसे सिद्धान्त परिवर्तनकारी नेतृत्व, सेवाभावी नेतृत्व तथा नैतिक नेतृत्व जैसी आधुनिक अवधारणाओं के साथ वैचारिक समानता रखते हैं। इस प्रकार भारतीय ज्ञान प्रणाली और भगवद् गीता का समन्वय शैक्षणिक संस्थानों में मूल्य-आधारित नेतृत्व एवं उत्तरदायी प्रबंधन के लिए एक सुदृढ़ आधार प्रदान करता है।

यद्यपि भारतीय ज्ञान प्रणाली और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 पर उपलब्ध साहित्य में शिक्षा के समग्र विकास, बहुविषयक दृष्टिकोण तथा नैतिक शिक्षा पर पर्याप्त चर्चा मिलती है, तथापि शैक्षणिक संस्थानों के नेतृत्व एवं प्रबंधन के संदर्भ में इन सिद्धान्तों का समेकित विश्लेषण अभी अपेक्षाकृत सीमित है। अधिकांश अध्ययन भारतीय ज्ञान प्रणाली के सामान्य शैक्षिक महत्व अथवा प्रबंधन शिक्षा में उसके उपयोग तक सीमित हैं। विद्यालयी एवं उच्च शिक्षा संस्थानों में नेतृत्व, संस्थागत संस्कृति तथा शैक्षिक प्रशासन के साथ भगवद् गीता के नेतृत्व सिद्धान्तों के समन्वित अध्ययन की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है।

3.4 समालोचनात्मक संश्लेषण एवं शोध-अंतर

समीक्षित साहित्य के समग्र विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि भगवद् गीता आधारित नेतृत्व एवं प्रबंधन पर शोध पिछले कुछ वर्षों में उल्लेखनीय रूप से विकसित हुआ है। अधिकांश अध्ययनों में कर्मयोग, समत्व, आत्म-नेतृत्व, नैतिक नेतृत्व, सेवाभावी नेतृत्व तथा मूल्य-आधारित प्रबंधन को आधुनिक संगठनात्मक नेतृत्व के प्रभावी आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, भारतीय ज्ञान प्रणाली और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में भी यह स्वीकार किया गया है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा समकालीन नेतृत्व-विमर्श को एक नैतिक एवं मानवीय दृष्टिकोण प्रदान कर सकती है।

यद्यपि उपलब्ध साहित्य नेतृत्व एवं प्रबंधन के क्षेत्र में भगवद् गीता की प्रासंगिकता को स्थापित करता है, फिर भी कुछ महत्वपूर्ण सीमाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। प्रथम, अधिकांश अध्ययन कॉर्पोरेट प्रबंधन, व्यवसायिक नेतृत्व अथवा संगठनात्मक व्यवहार पर केन्द्रित हैं। शिक्षा संस्थानों, विशेषकर विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के नेतृत्व, शैक्षिक प्रशासन तथा संस्थागत प्रबंधन के संदर्भ में इन सिद्धान्तों का व्यवस्थित विश्लेषण अपेक्षाकृत कम उपलब्ध है। द्वितीय, कई अध्ययन भगवद् गीता के कुछ चुनिंदा श्लोकों या अवधारणाओं तक सीमित हैं, जबकि सम्पूर्ण दार्शनिक संदर्भ में नेतृत्व की व्याख्या अपेक्षाकृत कम मिलती है। यह सीमा स्वयं कुछ समीक्षात्मक अध्ययनों में भी स्वीकार की गई है।

इसी प्रकार भारतीय ज्ञान प्रणाली और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 पर आधारित साहित्य में समग्र शिक्षा, नैतिक मूल्यों तथा भारतीय परम्परा की उपयोगिता पर पर्याप्त चर्चा उपलब्ध है, किन्तु भगवद् गीता, भारतीय दर्शन, भारतीय ज्ञान प्रणाली और शैक्षणिक नेतृत्व एवं प्रबंधन के मध्य अंतर्सम्बन्धों का समेकित वैचारिक प्रतिमान अभी पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हुआ है। उपलब्ध शोधों में भी यह इंगित किया गया है कि भगवद् गीता के नेतृत्व सिद्धान्तों को समकालीन शिक्षा एवं प्रबंधन के लिए अनुभवजन्य तथा संदर्भ-विशिष्ट रूपरेखाओं में विकसित किए जाने की आवश्यकता है।

इन्हीं सीमाओं को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन भगवद् गीता एवं भारतीय दर्शन में प्रतिपादित नेतृत्व एवं प्रबंधन संबंधी सिद्धान्तों का राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 तथा भारतीय ज्ञान प्रणाली के संदर्भ में समेकित विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन नेतृत्व को केवल प्रशासनिक दक्षता के रूप में नहीं, बल्कि कर्तव्य, नैतिकता, आत्म-अनुशासन, लोककल्याण तथा संस्थागत उत्तरदायित्व पर आधारित शैक्षणिक प्रक्रिया के रूप में पुनर्परिभाषित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध भारतीय ज्ञान परम्परा और समकालीन शैक्षणिक नेतृत्व के मध्य एक वैचारिक सेतु स्थापित करने का प्रयास है।

4. भगवद् गीता एवं भारतीय दर्शन के आलोक में शैक्षणिक संस्थानों में नेतृत्व एवं प्रबंधन

4.1 भारतीय दर्शन में नेतृत्व एवं प्रबंधन की अवधारणा

भारतीय दर्शन में नेतृत्व एवं प्रबंधन की अवधारणाएँ केवल प्रशासनिक नियंत्रण अथवा संगठनात्मक दक्षता तक सीमित नहीं हैं, बल्कि नैतिकता, कर्तव्य, आत्मानुशासन तथा लोककल्याण पर आधारित जीवन-दृष्टि का अभिन्न अंग हैं। भारतीय ज्ञान परम्परा में नेतृत्व का उद्देश्य किसी संस्था या समूह पर अधिकार स्थापित करना नहीं, बल्कि समाज के समग्र विकास के लिए उत्तरदायी एवं मूल्यनिष्ठ दिशा प्रदान करना है। यही कारण है कि वैदिक साहित्य, उपनिषद, महाभारत, भगवद् गीता तथा अन्य भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में नेतृत्व को शक्ति के स्थान पर **धर्म**, **कर्तव्य** और **सेवा** के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया गया है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था में गुरुकुल, आश्रम, तक्षशिला, नालन्दा तथा विक्रमशिला जैसे शिक्षा केन्द्र केवल ज्ञान प्रदान करने वाले संस्थान नहीं थे, बल्कि वे सामाजिक एवं नैतिक जीवन के निर्माण के केन्द्र भी थे। इन संस्थानों में गुरु या आचार्य की भूमिका प्रशासनिक प्रमुख की अपेक्षा एक आदर्श नेतृत्वकर्ता की थी। वे विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास के साथ-साथ उनके नैतिक, सांस्कृतिक

तथा आध्यात्मिक निर्माण के लिए भी उत्तरदायी माने जाते थे। इस प्रकार भारतीय शिक्षा-दर्शन में नेतृत्व का आधार अधिकार नहीं, बल्कि उत्तरदायित्व, अनुशासन और आदर्श आचरण रहा है।

भारतीय दर्शन का मूल आधार यह है कि किसी भी संस्था की स्थिरता बाह्य नियंत्रण से अधिक उसके नेतृत्वकर्ता के चरित्र और नैतिक प्रतिबद्धता पर निर्भर करती है। इसलिए नेतृत्व की प्रभावशीलता का मूल्यांकन केवल उपलब्धियों से नहीं, बल्कि निर्णयों की निष्पक्षता, कर्तव्यनिष्ठा तथा लोकहित के प्रति प्रतिबद्धता से किया जाता है। यही दृष्टिकोण भगवद् गीता में अधिक स्पष्ट रूप से विकसित होता है, जहाँ नेतृत्व का आधार आत्मसंयम, निष्काम कर्म, समत्व तथा स्वधर्म को माना गया है।

भगवान श्रीकृष्ण नेतृत्व के आदर्श स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(भगवद् गीता, 3.21)

इस श्लोक में यह प्रतिपादित किया गया है कि समाज अपने नेतृत्वकर्ता के आचरण का अनुसरण करता है। इसलिए नेतृत्व की वास्तविक शक्ति आदेश देने में नहीं, बल्कि आदर्श प्रस्तुत करने में निहित है। शैक्षणिक संस्थानों के संदर्भ में यह सिद्धान्त विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि शिक्षक, प्राचार्य तथा विश्वविद्यालय प्रशासक अपने व्यवहार, निर्णय एवं कार्य-संस्कृति के माध्यम से विद्यार्थियों तथा सहकर्मियों के लिए मानक स्थापित करते हैं।

समकालीन शिक्षा व्यवस्था में नेतृत्व की भूमिका निरंतर विस्तृत हुई है। वर्तमान समय में शैक्षणिक नेतृत्व केवल प्रशासनिक कार्यों तक सीमित नहीं है, बल्कि गुणवत्ता सुनिश्चित करने, नवाचार को प्रोत्साहित करने, सहभागी निर्णय-निर्माण, शिक्षक व्यावसायिक विकास तथा समावेशी शिक्षण वातावरण के निर्माण से भी जुड़ी हुई है। ऐसी परिस्थितियों में भारतीय दर्शन नेतृत्व को एक समग्र दृष्टि प्रदान करता है, जिसमें संगठनात्मक दक्षता और नैतिक उत्तरदायित्व दोनों का संतुलित समन्वय दिखाई देता है। उपलब्ध अध्ययनों से भी यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा पर आधारित नेतृत्व मॉडल समकालीन नेतृत्व सिद्धान्तों के लिए एक प्रभावी वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन में नेतृत्व एवं प्रबंधन का आधार व्यक्ति का आत्म-विकास, कर्तव्यपरायणता तथा समाज के प्रति उत्तरदायित्व है। यही आधार आगे चलकर भगवद् गीता में निष्काम कर्म, समत्व, स्वधर्म, आत्म-नेतृत्व तथा लोकसंग्रह जैसे सिद्धान्तों के माध्यम से विस्तृत रूप में प्रतिपादित होता है। ये सिद्धान्त समकालीन शैक्षणिक संस्थानों में नेतृत्व एवं प्रबंधन के लिए एक सुदृढ़ वैचारिक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं, जिसका विश्लेषण अगले उपखंड में किया गया है।

4.2 भगवद् गीता के नेतृत्व सिद्धान्त एवं शैक्षणिक प्रबंधन

भगवद् गीता भारतीय दार्शनिक परम्परा का ऐसा ग्रन्थ है जो नेतृत्व एवं प्रबंधन को केवल प्रशासनिक कौशल के रूप में नहीं, बल्कि नैतिक उत्तरदायित्व, आत्मानुशासन तथा लोककल्याण से जुड़ी जीवन-पद्धति के रूप में प्रस्तुत करता है। महाभारत के युद्धक्षेत्र में अर्जुन के नैतिक द्वंद्व का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण केवल युद्ध की रणनीति नहीं बताते, बल्कि ऐसे नेतृत्व का प्रतिपादन करते हैं जो कर्तव्य, विवेक, आत्मसंयम तथा समाज के व्यापक हित पर आधारित है। यही कारण है कि भगवद् गीता में प्रतिपादित नेतृत्व सिद्धान्त आज भी शिक्षा, प्रबंधन तथा सार्वजनिक जीवन के लिए समान रूप से प्रासंगिक माने जाते हैं। उपलब्ध अध्ययनों में भी यह स्वीकार किया गया है कि गीता के नेतृत्व सिद्धान्त नैतिक नेतृत्व, सेवाभावी नेतृत्व तथा मूल्य-आधारित प्रबंधन के लिए एक प्रभावी दार्शनिक आधार प्रदान करते हैं।

भगवद् गीता का प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण नेतृत्व सिद्धान्त **निष्काम कर्म** है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(भगवद् गीता, 2.47)

यह श्लोक नेतृत्वकर्ता को यह संदेश देता है कि उसका अधिकार केवल अपने कर्तव्य के पालन पर है, न कि उसके फल पर। शैक्षणिक संस्थानों के संदर्भ में इसका अर्थ यह है कि शिक्षक, प्राचार्य या विश्वविद्यालय प्रशासक को केवल परीक्षा परिणाम, संस्थागत रैंकिंग अथवा बाह्य उपलब्धियों पर केंद्रित होने के स्थान पर गुणवत्तापूर्ण शिक्षण, न्यायपूर्ण प्रशासन तथा विद्यार्थियों के समग्र विकास को प्राथमिकता देनी चाहिए। जब नेतृत्व कर्तव्यनिष्ठा पर आधारित होता है, तब संस्थान में विश्वास, उत्तरदायित्व तथा व्यावसायिक नैतिकता का विकास होता है।

इसके साथ ही भगवद् गीता नेतृत्व में **समत्व** अर्थात् मानसिक संतुलन और निष्पक्ष निर्णय को भी आवश्यक मानती है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(भगवद् गीता, 2.48)

समत्व का अर्थ सफलता और असफलता दोनों परिस्थितियों में संतुलित रहना है। शैक्षणिक नेतृत्व में यह सिद्धान्त अत्यंत उपयोगी है, क्योंकि शिक्षा संस्थानों में अनेक बार संसाधनों की कमी, प्रशासनिक दबाव, विविध हितधारकों की अपेक्षाएँ तथा नीतिगत परिवर्तन जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसी स्थिति में संतुलित, तथ्यपरक तथा न्यायपूर्ण निर्णय ही संस्थागत विश्वास और सहयोग को बनाए रखते हैं। समत्व नेतृत्वकर्ता को व्यक्तिगत पक्षपात से ऊपर उठकर संस्थान के दीर्घकालिक हित में निर्णय लेने की प्रेरणा देता है। भगवद् गीता नेतृत्व का आधार केवल बाह्य नियंत्रण नहीं, बल्कि **आत्म-नेतृत्व** को भी मानती है। इस संदर्भ में श्रीकृष्ण कहते हैं-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(भगवद् गीता, 6.5)

यह श्लोक स्पष्ट करता है कि व्यक्ति स्वयं अपने उत्थान और पतन का कारण है। शैक्षणिक नेतृत्व के संदर्भ में इसका अर्थ है कि प्रभावी नेतृत्व की शुरुआत आत्म-अनुशासन, आत्ममूल्यांकन तथा निरंतर सीखने की प्रवृत्ति से होती है। शिक्षक और शैक्षणिक प्रशासक यदि स्वयं आजीवन अधिगम, नैतिक आचरण तथा व्यावसायिक विकास के प्रति प्रतिबद्ध होंगे, तभी वे संस्थान में सीखने की संस्कृति विकसित कर पाएँगे। आधुनिक नेतृत्व-विमर्श में जिस *Self-Leadership* और *Reflective Practice* पर बल दिया जाता है, उसका दार्शनिक आधार भगवद् गीता में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

इसी प्रकार भगवद् गीता में **स्वधर्म** की अवधारणा नेतृत्व को उत्तरदायित्व से जोड़ती है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(भगवद् गीता, 3.35)

शैक्षणिक संस्थानों में स्वधर्म का अर्थ है कि प्रत्येक शिक्षक, प्राचार्य, विभागाध्यक्ष तथा प्रशासक अपने दायित्वों का निर्वहन ईमानदारी, निष्पक्षता और व्यावसायिक नैतिकता के साथ करे। शिक्षण को केवल रोजगार के रूप में नहीं, बल्कि समाज निर्माण के उत्तरदायित्व के रूप में स्वीकार करना ही स्वधर्म का वास्तविक स्वरूप है। यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 द्वारा प्रतिपादित शिक्षक की केंद्रीय भूमिका तथा नैतिक उत्तरदायित्व की अवधारणा के साथ भी सामंजस्य स्थापित करता है।

भगवद् गीता का अंतिम महत्त्वपूर्ण नेतृत्व सिद्धान्त **लोकसंग्रह** है। श्रीकृष्ण कहते हैं-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(भगवद् गीता, 3.21)

यह श्लोक स्पष्ट करता है कि नेतृत्वकर्ता का आचरण समाज के लिए आदर्श बनता है। शैक्षणिक संस्थानों में यह सिद्धान्त विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि शिक्षक एवं प्रशासक अपने व्यवहार, कार्यशैली तथा निर्णयों के माध्यम से विद्यार्थियों और सहकर्मियों के लिए मानक स्थापित करते हैं। जब नेतृत्व पारदर्शिता, सहयोग, सेवा और उत्तरदायित्व का उदाहरण प्रस्तुत करता है, तब संस्थान में सकारात्मक कार्य-संस्कृति, पारस्परिक विश्वास तथा सहभागिता का वातावरण विकसित होता है।

उपलब्ध साहित्य और भारतीय दार्शनिक परम्परा के समेकित विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि निष्काम कर्म, समत्व, आत्म-नेतृत्व, स्वधर्म तथा लोकसंग्रह पर आधारित नेतृत्व-दृष्टि शैक्षणिक संस्थानों के लिए अत्यंत प्रासंगिक है। ये सिद्धान्त शिक्षा को केवल प्रशासनिक प्रक्रिया न मानकर नैतिक, मानवीय तथा समाजोन्मुख प्रक्रिया के रूप में स्थापित करते हैं। वर्तमान समय में जब शिक्षा संस्थानों के समक्ष गुणवत्ता, उत्तरदायित्व, समावेशन तथा नैतिक नेतृत्व जैसी चुनौतियाँ उपस्थित हैं, तब भगवद् गीता का नेतृत्व-दर्शन भारतीय ज्ञान प्रणाली एवं राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक सुदृढ़ वैचारिक आधार प्रदान करता है।

4.3 शैक्षणिक संस्थानों में भगवद् गीता आधारित नेतृत्व एवं प्रबंधन के व्यावहारिक निहितार्थ

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था अनेक चुनौतियों का सामना कर रही है, जिनमें शैक्षणिक गुणवत्ता, नैतिक मूल्यों का क्षरण, प्रशासनिक जटिलताएँ, शिक्षक प्रेरणा, उत्तरदायित्व, समावेशी शिक्षा तथा संस्थागत पारदर्शिता प्रमुख हैं। इन चुनौतियों के समाधान के

लिए केवल प्रशासनिक सुधार पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि नेतृत्व एवं प्रबंधन में मूल्य-आधारित दृष्टिकोण अपनाना भी आवश्यक है। इस संदर्भ में भगवद् गीता में प्रतिपादित नेतृत्व सिद्धान्त शैक्षणिक संस्थानों के लिए एक व्यावहारिक एवं प्रासंगिक आधार प्रस्तुत करते हैं। उपलब्ध अध्ययनों में भी यह स्वीकार किया गया है कि गीता के सिद्धान्त नैतिक नेतृत्व, संगठनात्मक विश्वास तथा उत्तरदायी प्रबंधन को सुदृढ़ करने में सहायक हो सकते हैं।

शैक्षणिक संस्थानों में नेतृत्व का उद्देश्य केवल प्रशासनिक कार्यों का संचालन नहीं है, बल्कि शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा अन्य हितधारकों के मध्य सहयोग, विश्वास एवं उत्तरदायित्व की संस्कृति का निर्माण करना भी है। भगवद् गीता का निष्काम कर्म सिद्धान्त नेतृत्वकर्ता को यह प्रेरणा देता है कि वह व्यक्तिगत लाभ अथवा तात्कालिक उपलब्धियों के स्थान पर संस्थान के दीर्घकालिक शैक्षिक उद्देश्यों को प्राथमिकता दे। इससे निर्णय प्रक्रिया अधिक पारदर्शी, न्यायपूर्ण तथा विद्यार्थी-केंद्रित बनती है।

इसी प्रकार समत्व का सिद्धान्त शैक्षणिक नेतृत्व में निष्पक्षता एवं संतुलित निर्णय-निर्माण का आधार प्रदान करता है। विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में प्रवेश, मूल्यांकन, शिक्षक विकास, संसाधनों के वितरण तथा प्रशासनिक निर्णयों में निष्पक्षता बनाए रखना संस्थागत विश्वास के लिए आवश्यक है। समत्व पर आधारित नेतृत्व व्यक्तिगत पक्षपात से मुक्त होकर तथ्यों, न्याय तथा संस्थागत हितों के आधार पर निर्णय लेने की प्रेरणा देता है।

आत्म-नेतृत्व का सिद्धान्त शैक्षणिक नेतृत्वकर्ता के निरंतर व्यावसायिक विकास को भी महत्त्व देता है। वर्तमान समय में शिक्षक एवं प्रशासक के लिए केवल विषय-ज्ञान पर्याप्त नहीं है; उन्हें बदलती शैक्षिक आवश्यकताओं, नई शिक्षण पद्धतियों तथा प्रौद्योगिकी के साथ स्वयं को निरंतर अद्यतन करना भी आवश्यक है। आत्ममूल्यांकन, आत्म-अनुशासन तथा आजीवन अधिगम की प्रवृत्ति शैक्षणिक नेतृत्व को अधिक प्रभावी और उत्तरदायी बनाती है।

स्वधर्म एवं लोकसंग्रह के सिद्धान्त शैक्षणिक संस्थानों में सहभागी नेतृत्व तथा उत्तरदायी प्रशासन को प्रोत्साहित करते हैं। जब शिक्षक, प्राचार्य तथा विश्वविद्यालय प्रशासक अपने दायित्वों का निर्वहन सेवा, नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से करते हैं, तब संस्थान में सहयोगात्मक कार्य-संस्कृति विकसित होती है। इससे निर्णय प्रक्रिया अधिक लोकतांत्रिक, पारदर्शी तथा उत्तरदायी बनती है, जो गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए आवश्यक है।

इस प्रकार भगवद् गीता आधारित नेतृत्व-दृष्टि शैक्षणिक संस्थानों में केवल व्यक्तिगत नेतृत्व क्षमता का विकास नहीं करती, बल्कि संस्थागत संस्कृति, शिक्षक-व्यावसायिकता, नैतिक प्रशासन तथा विद्यार्थी-केंद्रित शिक्षा को भी सुदृढ़ करती है। भारतीय ज्ञान प्रणाली और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के परिप्रेक्ष्य में यह दृष्टिकोण शिक्षा संस्थानों को अधिक उत्तरदायी, समावेशी और मूल्य-आधारित बनाने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण वैचारिक आधार प्रदान करता है।

5. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एवं भारतीय ज्ञान प्रणाली के संदर्भ में शैक्षणिक नेतृत्व

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय शिक्षा व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकारी दस्तावेज़ है, जिसका उद्देश्य शिक्षा को समग्र, बहुविषयक, समावेशी, मूल्य-आधारित तथा भारतीय ज्ञान परम्परा से समृद्ध बनाना है। नीति में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि भारत की समृद्ध ज्ञान परम्परा, दर्शन, भाषाएँ, कला, विज्ञान तथा सांस्कृतिक विरासत को शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर समुचित स्थान दिया जाना चाहिए। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान प्रणाली केवल अतीत की बौद्धिक धरोहर नहीं है, बल्कि समकालीन शिक्षा के लिए एक वैचारिक आधार भी है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में शिक्षा का उद्देश्य केवल रोजगारोन्मुखी कौशलों का विकास नहीं, बल्कि विद्यार्थियों में नैतिकता, संवेदनशीलता, आलोचनात्मक चिंतन, रचनात्मकता, उत्तरदायित्व तथा संवैधानिक मूल्यों का विकास भी है। इन उद्देश्यों की प्रभावी प्राप्ति के लिए शैक्षणिक संस्थानों में ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है जो प्रशासनिक दक्षता के साथ-साथ मूल्य-आधारित निर्णय-निर्माण, सहभागी प्रबंधन तथा मानवीय दृष्टिकोण को भी अपनाए। इसी संदर्भ में भगवद् गीता एवं भारतीय दर्शन में प्रतिपादित नेतृत्व सिद्धान्त राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के उद्देश्यों के साथ गहरा सामंजस्य स्थापित करते हैं।

भारतीय ज्ञान प्रणाली में शिक्षा को व्यक्ति के **शारीरिक, बौद्धिक, भावनात्मक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास** की समग्र प्रक्रिया माना गया है। यही दृष्टिकोण राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भी दिखाई देता है, जहाँ समग्र विकास, अनुभवात्मक अधिगम, बहुविषयक शिक्षा तथा नैतिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। इस संदर्भ में भगवद् गीता का निष्काम कर्म, समत्व, स्वधर्म तथा लोकसंग्रह का दर्शन शैक्षणिक नेतृत्व को ऐसी दिशा प्रदान करता है जिसमें शिक्षा केवल ज्ञानार्जन तक सीमित न रहकर व्यक्ति एवं समाज के समग्र विकास का माध्यम बनती है।

शैक्षणिक संस्थानों के नेतृत्व के संदर्भ में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 संस्थागत स्वायत्तता, उत्तरदायित्व, गुणवत्ता आश्वासन तथा शिक्षक के सतत् व्यावसायिक विकास पर विशेष बल देती है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए केवल प्रशासनिक सुधार पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि नेतृत्वकर्ता में नैतिक प्रतिबद्धता, पारदर्शिता, सहयोगात्मक दृष्टिकोण तथा सेवा-भाव का विकास भी आवश्यक है। भगवद् गीता का नेतृत्व-दर्शन इन मूल्यों को दार्शनिक आधार प्रदान करता है। विशेष रूप से आत्म-नेतृत्व एवं कर्तव्यनिष्ठा की अवधारणा शैक्षणिक नेतृत्वकर्ताओं को निरंतर आत्ममूल्यांकन, व्यावसायिक विकास तथा संस्थागत उत्तरदायित्व के प्रति प्रेरित करती है।

वर्तमान समय में शिक्षा संस्थानों के समक्ष गुणवत्ता, नैतिकता, समावेशन तथा सुशासन जैसी चुनौतियाँ विद्यमान हैं। इन चुनौतियों के समाधान के लिए भारतीय ज्ञान प्रणाली और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का समन्वित दृष्टिकोण अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यदि शैक्षणिक नेतृत्व भगवद् गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म, समत्व, स्वधर्म एवं लोकसंग्रह जैसे सिद्धान्तों को व्यवहार में अपनाता है, तो संस्थानों में उत्तरदायित्व, पारदर्शिता, सहयोग तथा विद्यार्थी-केंद्रित शैक्षिक संस्कृति का विकास संभव है। इस प्रकार भारतीय ज्ञान प्रणाली और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का समन्वय शैक्षणिक संस्थानों में मूल्य-आधारित नेतृत्व एवं प्रभावी प्रबंधन के लिए एक सुदृढ़ वैचारिक एवं व्यवहारिक आधार प्रस्तुत करता है।

6. चर्चा

प्रस्तुत अध्ययन के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि भगवद् गीता एवं भारतीय दर्शन में प्रतिपादित नेतृत्व एवं प्रबंधन संबंधी सिद्धान्त समकालीन शैक्षणिक संस्थानों की आवश्यकताओं के अनुरूप एक सुदृढ़ वैचारिक आधार प्रस्तुत करते हैं। उपलब्ध साहित्य से यह भी स्पष्ट हुआ कि अब तक अधिकांश शोधों में भगवद् गीता के सिद्धान्तों का प्रयोग मुख्यतः कॉर्पोरेट नेतृत्व, व्यवसाय प्रबंधन तथा संगठनात्मक व्यवहार के संदर्भ में किया गया है, जबकि शिक्षा क्षेत्र में विशेष रूप से विद्यालयों एवं उच्च शिक्षा संस्थानों के नेतृत्व और प्रबंधन पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है।

इस अध्ययन का विश्लेषण दर्शाता है कि भगवद् गीता के निष्काम कर्म, समत्व, आत्म-नेतृत्व, स्वधर्म तथा लोकसंग्रह जैसे सिद्धान्त शैक्षणिक नेतृत्व को नैतिकता, उत्तरदायित्व, पारदर्शिता तथा सहभागी निर्णय-निर्माण की दिशा प्रदान करते हैं। ये सिद्धान्त राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में प्रतिपादित समग्र शिक्षा, मूल्य-आधारित शिक्षण, शिक्षक की व्यावसायिक प्रतिबद्धता तथा भारतीय ज्ञान प्रणाली के उद्देश्यों के साथ भी सामंजस्य स्थापित करते हैं। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान परम्परा और समकालीन शैक्षिक नेतृत्व परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं।

अध्ययन यह भी इंगित करता है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा पर आधारित नेतृत्व मॉडल शिक्षा संस्थानों में केवल प्रशासनिक दक्षता को ही नहीं, बल्कि संस्थागत संस्कृति, शिक्षक-व्यावसायिकता तथा विद्यार्थियों के समग्र विकास को भी सुदृढ़ कर सकता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक-शिक्षा, शैक्षणिक नेतृत्व प्रशिक्षण तथा संस्थागत प्रशासन में भारतीय ज्ञान प्रणाली एवं भगवद् गीता के मूल्य-आधारित नेतृत्व सिद्धान्तों को संदर्भानुकूल रूप में सम्मिलित किया जाए।

7. निष्कर्ष एवं शैक्षिक निहितार्थ

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य भगवद् गीता एवं भारतीय दर्शन के आलोक में शैक्षणिक संस्थानों में नेतृत्व एवं प्रबंधन की अवधारणाओं का विश्लेषण करना तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एवं भारतीय ज्ञान प्रणाली के संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता को स्पष्ट करना था। अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि भारतीय दार्शनिक परम्परा नेतृत्व को केवल प्रशासनिक नियंत्रण या संगठनात्मक दक्षता के रूप में नहीं देखती, बल्कि उसे कर्तव्य, नैतिकता, आत्मानुशासन, उत्तरदायित्व तथा लोककल्याण पर आधारित सामाजिक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करती है।

भगवद् गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म, समत्व, स्वधर्म, आत्म-नेतृत्व तथा लोकसंग्रह जैसे सिद्धान्त समकालीन शैक्षणिक नेतृत्व के लिए एक मूल्य-आधारित वैचारिक आधार प्रदान करते हैं। ये सिद्धान्त नेतृत्वकर्ता को पारदर्शी, उत्तरदायी, न्यायपूर्ण तथा विद्यार्थी-केंद्रित निर्णय लेने की प्रेरणा देते हैं। साथ ही, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 द्वारा प्रतिपादित समग्र विकास, भारतीय ज्ञान प्रणाली, नैतिक शिक्षा तथा शिक्षक की केंद्रीय भूमिका के उद्देश्यों के साथ भी इनका स्पष्ट सामंजस्य दिखाई देता है।

शैक्षणिक दृष्टि से यह अध्ययन संकेत करता है कि शिक्षक-शिक्षा कार्यक्रमों, नेतृत्व विकास पाठ्यक्रमों तथा शैक्षणिक प्रशासन के प्रशिक्षण में भारतीय दर्शन एवं भगवद् गीता आधारित नेतृत्व सिद्धान्तों को संदर्भानुकूल रूप से सम्मिलित किया जा सकता है। इससे शैक्षणिक संस्थानों में उत्तरदायी नेतृत्व, सहभागी प्रबंधन, नैतिक निर्णय-निर्माण तथा सकारात्मक संस्थागत संस्कृति के विकास को बल मिलेगा।

अंततः यह कहा जा सकता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा और भगवद् गीता में निहित नेतृत्व-दृष्टि केवल ऐतिहासिक या दार्शनिक महत्व नहीं रखती, बल्कि वर्तमान भारतीय शिक्षा व्यवस्था के लिए भी अत्यंत प्रासंगिक है। यदि इन सिद्धान्तों को राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की भावना के अनुरूप शैक्षणिक नेतृत्व एवं प्रबंधन में समावेशित किया जाए, तो शिक्षा संस्थानों में गुणवत्तापूर्ण, समावेशी तथा मूल्य-आधारित प्रशासन की दिशा में सार्थक प्रगति संभव है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

हर्षवर्धन, एन. एस., एवं श्रीनिवास, के. जी. (2021). *द पिरामिड ऑफ वैल्यूज़: वैल्यू-बेस्ड लीडरशिप लेसन्स बेस्ड ऑन टीचिंग्स फ्रॉम भगवद गीता चैप्टर 13. देव संस्कृति: इंटरडिसिप्लिनरी इंटरनेशनल जर्नल, 18*, 1-9. https://doi.org/10.36018/dsiij.v18i.213

नायक, ए. के. (2018). *इफेक्टिव लीडरशिप ट्रेट्स फ्रॉम भगवद गीता. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ इंडियन कल्चर एंड बिजनेस मैनेजमेंट, 16*(1), 1-18.

धर, यू., एवं धर, एस. (2024). *इंडियन नॉलेज सिस्टम: लेसन्स फ्रॉम रामायण. यूनिवर्सिटी न्यूज़, 62*(16).

वशिष्ठ, एस., एवं गंभीर, वी. (2026). *लीडरशिप एंड मैनेजमेंट लेसन्स फ्रॉम भगवद गीता: ए लिटरेचर रिव्यू. इंटरनेशनल जर्नल ऑफ स्पेशल एजुकेशन, 41*(5S), 416-437.

मरुथी, ए. (2024). *इंटीग्रेटिंग द भगवद गीता 18थ चैप्टर इंटू लीडरशिप एसेंशियल्स अंडर NEP 2020: एन इंडियन नॉलेज सिस्टम्स पर्सपेक्टिव. रिसर्च रिव्यू जर्नल ऑफ इंडियन नॉलेज सिस्टम्स, 1*(2), 44-54. https://doi.org/10.31305/rrjiks.2024.v1.n2.006

पांडा, एम., दास, एम., सिंह, के., एवं पुरी, आर. (2025). *एंशिएंट विजडम फॉर मॉडर्न मैनेजमेंट: लीडरशिप इनसाइट्स फ्रॉम द भगवद गीता. पुरुषार्थ, 18*(2), 64-82. https://doi.org/10.21844/16202118205

दुबे, पी., जोशी, ए., एवं मिश्रा, आर. सी. (2025). *अटेनिंग सस्टेनेबिलिटी वाया श्रीमद भगवद गीता: एन एम्पिरिकल स्टडी ऑफ आइडेंटिफाइड वैरिएबल्स, सेल्फ-एफिकेसी, गोल परफॉर्मेंस एंड लीडरशिप इफेक्टिवनेस. जर्नल ऑफ ह्यूमन वैल्यूज़, 31*(1), 30-44. https://doi.org/10.1177/09716858241263127

पाटिल, वी. के. & पाटिल, के. डी. (2023). ट्रेडीशनल इंडियन एडुकेशन वैल्यूज एण्ड न्यू नेशनल एडुकेशन पॉलिसी अडोप्टेड बाय इंडिया. *जर्नल ऑफ एडुकेशन, 203*(1), 242-245.

राज, आर. (2025). रोल ऑफ योगा इन मैनेजमेंट ऑफ लाइफस्टाइल. *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एडवांस्ड रिसर्च इन ह्यूमैनीटीज एंड सोशल साइन्सेज,* 51-53.

श्रीमद्भगवतगीता : गीतप्रेस गोरखपुर : https://archive.org/details/shreemed-bhagwat-gita-20220406_20220406_0356.

शिक्षा से बदलती गाँवों की तस्वीर : एक अध्ययन

डॉ. रघुवंश कुमार सिन्हा*

शोध-सार -

प्रस्तुत शोध पत्र का विषय "शिक्षा से बदलती गाँवों की तस्वीर : एक अध्ययन" है। शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है। विशेष रूप से ग्रामीण समाज में शिक्षा केवल व्यक्ति के ज्ञान और कौशल में वृद्धि नहीं करती, बल्कि सामाजिक चेतना, आर्थिक अवसर, लैंगिक समानता, स्वास्थ्य-जागरूकता, राजनीतिक सहभागिता तथा सामाजिक संबंधों में भी परिवर्तन उत्पन्न करती है। परंपरागत भारतीय गाँव लंबे समय तक कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था, जातिगत संरचना, अशिक्षा, रूढ़िवादिता, लैंगिक असमानता और सीमित रोजगार अवसरों से प्रभावित रहे हैं। आधुनिक शिक्षा के विस्तार ने इन परिस्थितियों में महत्वपूर्ण बदलाव उत्पन्न किए हैं।

आज भी देश की बड़ी आबादी गाँवों में निवास करती है। गाँव भारतीय सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की महत्वपूर्ण इकाई हैं। ग्रामीण जीवन की संरचना लंबे समय तक कृषि, पारंपरिक व्यवसाय, संयुक्त परिवार, जातिगत संबंधों, धार्मिक मान्यताओं तथा स्थानीय सामाजिक संस्थाओं पर आधारित रही है। इन संस्थाओं ने ग्रामीण जीवन को स्थिरता प्रदान की, लेकिन इनके भीतर मौजूद अनेक रूढ़ियाँ और असमानताएँ सामाजिक विकास की गति को सीमित भी करती रही हैं। अशिक्षा इन समस्याओं को बनाए रखने वाले प्रमुख कारकों में से एक रही है।

शिक्षा के प्रसार ने ग्रामीण समाज में परिवर्तन की नई संभावनाएँ उत्पन्न की हैं। शिक्षा व्यक्ति को केवल पढ़नालिखना नहीं सिखाती-, बल्कि उसे अपने प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य यह समझना है कि शिक्षा ने ग्रामीण समाज की सामाजिक, आर्थिक, दिया है।

नये तकनीक और इंटरनेट के विस्तार ने ग्रामीण शिक्षा के प्रभाव को और व्यापक बनाया है। स्मार्टफोन, ऑनलाइन शिक्षा, डिजिटल भुगतान तथा सामाजिक मीडिया के माध्यम से ग्रामीण युवा देश-दुनिया की सूचनाओं से जुड़ रहे हैं। सांस्कृतिक और राजनीतिक संरचना को किस प्रकार प्रभावित किया है। शिक्षा के प्रसार से ग्रामीण युवाओं में रोजगार एवं स्वरोजगार के प्रति जागरूकता बढ़ी है तथा वे कृषि के साथ-साथ सरकारी, निजी और तकनीकी क्षेत्रों में अवसर तलाश रहे हैं। शिक्षा ने महिलाओं और बालिकाओं की स्थिति में भी परिवर्तन लाया है। शिक्षित ग्रामीण महिलाएँ अपने अधिकारों, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, सरकारी योजनाओं और राजनीतिक सहभागिता के प्रति अधिक जागरूक हुई हैं। इसी प्रकार शिक्षा ने बाल विवाह, दहेज, अस्पृश्यता तथा लैंगिक भेदभाव जैसी सामाजिक समस्याओं के विरुद्ध चेतना विकसित करने में योगदान इससे ग्रामीण और शहरी समाज के बीच सूचना की दूरी कम हुई है। हालांकि, शिक्षा के सकारात्मक प्रभावों के साथ ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यालयों की गुणवत्ता, शिक्षकों की उपलब्धता, आर्थिक असमानता, उच्च शिक्षा तक सीमित पहुँच तथा रोजगार के पर्याप्त अवसरों की कमी जैसी चुनौतियाँ आज भी बनी हुई हैं। अतः शिक्षा को केवल साक्षरता प्राप्त करने का माध्यम न मानकर ग्रामीण सामाजिक परिवर्तन की आधारभूत शक्ति के रूप में देखना आवश्यक है। शिक्षा के प्रभाव को अधिक व्यापक बनाने के लिए गुणवत्तापूर्ण विद्यालयी शिक्षा, कौशल विकास, डिजिटल साक्षरता, बालिका शिक्षा तथा स्थानीय रोजगार के अवसरों को बढ़ावा देना आवश्यक है।

* सहायक प्राध्यापक, समाजशास्त्र विभाग, एस.बी.ए.एन.कॉलेज दरहेटा, लारी मगध विश्वविद्यालय बोधगया की अंगीभूत इकाई, Email Id – raghu.saifgunj@gmail.com, LMI-4589

मुख्य शब्द - ऑनलाइन शिक्षा, , ऑनलाइन शिक्षा, डिजिटल साक्षरता, ,कौशल विकास, बालिका शिक्षा, अशिक्षा, रूढ़िवादिता, लैंगिक असमानता आदि ।

सारांश - भारतीय समाज प्रारंभ से ही ग्रामीण समाज रहा है आज शहरीकरण ने अपनी प्रभाव को ग्रामीण समाज तक पहुचाने का कार्य किया हैI आज अधिकारों, कर्तव्यों, सामाजिक परिस्थितियों और उपलब्ध अवसरों के प्रति जागरूक बनाती है। शिक्षा व्यक्ति में तार्किक सोच, निर्णय लेने की क्षमता और परिवर्तन को स्वीकार करने की प्रवृत्ति विकसित करती है। इसलिए शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण माध्यम माना जाता है। स्वतंत्रता के बाद भारत में ग्रामीण शिक्षा के विस्तार के लिए अनेक प्रयास किए गए। प्राथमिक विद्यालयों का विस्तार, सर्वशिक्षा अभियान, मध्याह्न भोजन योजना, शिक्षा का अधिकार अधिनियम, छात्रवृत्ति योजनाएँ, बालिका शिक्षा कार्यक्रम,साईकिल योजना तथा विभिन्न डिजिटल शिक्षायोजना ने ग्रामीण बच्चों की शिक्षा तक पहुँच बढ़ाने में योगदान दिया। परिणामस्वरूप गाँवों में विद्यालय जाने वाले बच्चों की संख्या में वृद्धि हुई और शिक्षा के प्रति परिवारों की सोच में भी बदलाव आया(1)

आज ग्रामीण परिवार शिक्षा को केवल सरकारी नौकरी प्राप्त करने का साधन नहीं मानते, बल्कि इसे सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक उन्नति और बेहतर जीवन के माध्यम के रूप में देखते हैं। पहले जहाँ अनेक ग्रामीण परिवार बच्चों को कम उम्र में कृषि या पारंपरिक व्यवसाय में लगा देते थे, वहीं वर्तमान में वे अपने बच्चों को विद्यालय और उच्च शिक्षा संस्थानों तक भेजने के लिए अधिक इच्छुक दिखाई देते हैं। यह परिवर्तन ग्रामीण समाज की बदलती मानसिकता का महत्वपूर्ण संकेत है।

ग्रामीण समाज में शिक्षा का विस्तार - ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा का विस्तार सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को गति देने वाला प्रमुख तत्व रहा है। विद्यालय गाँवों में केवल शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाएँ नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक जागरूकता और सामुदायिक परिवर्तन के केंद्र भी बन गए हैं। विद्यालयों के माध्यम से बच्चों में स्वच्छता, स्वास्थ्य, पर्यावरण, समानता, लोकतंत्र और नागरिक अधिकारों से संबंधित विचार विकसित होते हैं।(2)

शिक्षा के प्रसार के साथ ग्रामीण परिवारों की आकांक्षाएँ भी बदली हैं। माता-पिता अब अपने बच्चों के भविष्य को केवल कृषि या पारंपरिक व्यवसाय से जोड़कर नहीं देखते। वे चाहते हैं कि उनके बच्चे शिक्षक, चिकित्सक, इंजीनियर, प्रशासनिक अधिकारी, पुलिसकर्मी, तकनीकी विशेषज्ञ या उद्यमी बनें। इस प्रकार शिक्षा ने ग्रामीण युवाओं के व्यावसायिक दृष्टिकोण में परिवर्तन किया है। शिक्षा ने ग्रामीण समाज में गतिशीलता को भी बढ़ाया है। शिक्षित व्यक्ति बेहतर रोजगार की तलाश में गाँव से शहरों की ओर जा सकता है, लेकिन साथ ही वह अपने गाँव के विकास में भी योगदान दे सकता है। शिक्षित युवाओं द्वारा स्वयं सहायता समूह, छोटे व्यवसाय, डिजिटल सेवाएँ, कोचिंग संस्थान तथा अन्य स्थानीय उद्यम शुरू किए जा रहे हैं। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था में नए अवसर पैदा हो रहे हैं।(3)

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन - शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का एक प्रभावशाली माध्यम है। समाज में मौजूद परंपराओं और मान्यताओं को व्यक्ति शिक्षा के माध्यम से आलोचनात्मक दृष्टि से समझने लगता है। ग्रामीण समाज में इसका विशेष महत्व है क्योंकि यहाँ परंपरा और आधुनिकता का सह अस्तित्व दिखाई-देता है। शिक्षा ने जातिगत भेदभाव और सामाजिक दूरी को कम करने में योगदान दिया है। विद्यालयों में विभिन्न जातियों और सामाजिक समूहों के बच्चे एक साथ पढ़ते हैं। इससे सामाजिक संपर्क बढ़ता है और पारंपरिक सामाजिक दूरी में कमी आती है। यद्यपि जातिगत असमानता पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है, फिर भी शिक्षा ने समानता और सामाजिक न्याय की चेतना को मजबूत किया है। शिक्षा ने ग्रामीण युवाओं में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने में भी योगदान दिया है। अंधविश्वास, रूढ़िवादी सोच और अवैज्ञानिक मान्यताओं के स्थान पर तर्क, प्रमाण

और वैज्ञानिक सोच को महत्व मिलने लगा है। स्वास्थ्य, कृषि, स्वच्छता और परिवार नियोजन जैसे क्षेत्रों में भी शिक्षित ग्रामीण परिवार अधिक जागरूक दिखाई देते हैं।(4)

शिक्षा और ग्रामीण अर्थव्यवस्था - शिक्षा का ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ता है। शिक्षित व्यक्ति कृषि की आधुनिक तकनीकों, सरकारी योजनाओं, बैंकिंग सेवाओं और बाजार संबंधी सूचनाओं का बेहतर उपयोग कर सकता है। कृषि शिक्षा और तकनीकी जानकारी किसानों को उन्नत बीज, सिंचाई तकनीक, मृदा परीक्षण, कृषि मशीनरी तथा बाजार की जानकारी प्राप्त करने में सहायता करती है।(5)

शिक्षा के कारण ग्रामीण परिवारों की आय के स्रोतों में विविधता आई है। अब ग्रामीण युवा कृषि के अतिरिक्त शिक्षक, बैंक कर्मचारी, सरकारी कर्मचारी, स्वास्थ्यकर्मी, तकनीकी कर्मचारी, दुकानदार के रूप में कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार शिक्षा ग्रामीण अर्थव्यवस्था को पारंपरिक कृषि-निर्भरता से विविध रोजगार की ओर ले जाने में सहायक है।

शिक्षा प्राप्त कर लेना रोजगार की गारंटी नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षित बेरोजगारी भी एक महत्वपूर्ण समस्या है। इसलिए शिक्षा के साथ व्यावसायिक और तकनीकी कौशल का विकास आवश्यक है। यदि शिक्षा को स्थानीय रोजगार और उद्यमिता से जोड़ा जाए तो इसका ग्रामीण विकास पर अधिक प्रभाव पड़ सकता है।(6)

महिला शिक्षा और ग्रामीण परिवर्तन

ग्रामीण समाज में शिक्षा के प्रभाव का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र महिला सशक्तीकरण है। लंबे समय तक ग्रामीण क्षेत्रों में लड़कियों की शिक्षा को लड़कों की तुलना में कम महत्व दिया जाता रहा। आर्थिक कठिनाइयों, घरेलू जिम्मेदारियों, बाल विवाह, सुरक्षा संबंधी चिंताओं और पारंपरिक सोच के कारण अनेक बालिकाएँ विद्यालय से बाहर रह जाती थीं।(7)

समय के साथ महिला शिक्षा के प्रति ग्रामीण परिवारों की सोच में परिवर्तन आया है। शिक्षित महिलाएँ अपने अधिकारों, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक सहभागिता के प्रति अधिक जागरूक होती हैं। शिक्षा से महिलाओं में आत्मविश्वास बढ़ता है तथा वे परिवार और समुदाय के निर्णयों में अधिक सक्रिय भूमिका निभा सकती हैं। बालिका शिक्षा का प्रभाव अगली पीढ़ी पर भी पड़ता है। शिक्षित माँ अपने बच्चों की शिक्षा, पोषण, स्वास्थ्य और स्वच्छता पर अधिक ध्यान देती है। इस प्रकार महिला शिक्षा केवल एक महिला के जीवन को नहीं बदलती, बल्कि पूरे परिवार और समुदाय के विकास को प्रभावित करती है।

पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं की भागीदारी ने भी शिक्षा के महत्व को बढ़ाया है। शिक्षित महिला प्रतिनिधि स्थानीय प्रशासन, सरकारी योजनाओं, स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वच्छता तथा विकास कार्यक्रमों के बारे में अधिक प्रभावी ढंग से जानकारी प्राप्त कर सकती हैं। इससे ग्रामीण लोकतंत्र में महिलाओं की भूमिका मजबूत होती है।(8)

शिक्षा और ग्रामीण युवाओं की बदलती पहचान - ग्रामीण युवाओं की सामाजिक पहचान में भी शिक्षा के कारण महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देता है। पहले ग्रामीण युवाओं की पहचान मुख्यतः परिवार, जाति, पारंपरिक व्यवसाय और स्थानीय समुदाय से जुड़ी होती थी। आज शिक्षा और डिजिटल तकनीक ने उनकी पहचान को व्यापक बनाया है।

शिक्षित युवा राष्ट्रीय और वैश्विक घटनाओं से परिचित होते हैं। वे रोजगार, प्रतियोगी परीक्षाओं, उच्च शिक्षा, तकनीकी प्रशिक्षण और उद्यमिता के नए अवसरों के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। इससे उनकी आकांक्षाओं का विस्तार हुआ है। बदलती आकांक्षाओं और उपलब्ध अवसरों के बीच अंतर भी एक समस्या है। यदि ग्रामीण युवाओं को उनकी शिक्षा के अनुरूप रोजगार नहीं मिलता, तो उनमें बेरोजगारी, निराशा और पलायन

की समस्या उत्पन्न हो सकती है। इसलिए ग्रामीण शिक्षा नीति को रोजगार और कौशल विकास से जोड़ना आवश्यक है।(9)

डिजिटल शिक्षा और गाँव - आधुनिकीकरण के प्रभाव से इक्कीसवीं सदी में डिजिटल तकनीक शिक्षा के स्वरूप को तेजी से बदल रही है। मोबाइल फोन, इंटरनेट, ऑनलाइन कक्षाएँ, डिजिटल पुस्तकालय और शैक्षिक वीडियो ग्रामीण विद्यार्थियों को नई प्रकार की सीखने की सुविधाएँ उपलब्ध करा रहे हैं। डिजिटल शिक्षा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि विद्यार्थी अपने गाँव में रहते हुए भी देश के विभिन्न शिक्षकों और शैक्षिक संसाधनों तक पहुँच प्राप्त कर सकता है। प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी, भाषा सीखने, कंप्यूटर शिक्षा और कौशल प्रशिक्षण में डिजिटल माध्यम उपयोगी साबित हो रहा है।

शिक्षा और स्वास्थ्य - शिक्षा का ग्रामीण स्वास्थ्य पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। शिक्षित व्यक्ति स्वास्थ्य संबंधी सूचनाओं को समझने, सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग करने तथा स्वच्छता और पोषण के महत्व को जानने में अपेक्षाकृत सक्षम होता है। शिक्षा के कारण ग्रामीण परिवार टीकाकरण, स्वच्छ पेयजल, शौचालय, पोषण, मातृ स्वास्थ्य और बाल स्वास्थ्य के प्रति अधिक जागरूक हुए हैं। विशेष रूप से महिला शिक्षा का स्वास्थ्य व्यवहार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी, चिकित्सकों की अनुपलब्धता, आर्थिक समस्याएँ और स्वास्थ्य संबंधी गलत धारणाएँ अभी भी चुनौती बनी हुई हैं। अतः शिक्षा के साथ ग्रामीण स्वास्थ्य व्यवस्था को मजबूत करना आवश्यक है।(10)

शिक्षा और राजनीतिक चेतना - लोकतांत्रिक समाज में शिक्षा राजनीतिक जागरूकता का महत्वपूर्ण आधार है। शिक्षित ग्रामीण नागरिक चुनाव प्रक्रिया, पंचायत व्यवस्था, सरकारी योजनाओं तथा अपने संवैधानिक अधिकारों के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।शिक्षा ने ग्रामीण नागरिकों में प्रश्न पूछने और सरकारी संस्थाओं से जवाबदेही की अपेक्षा करने की क्षमता विकसित की है। पंचायत चुनावों में भागीदारी, ग्रामसभा में उपस्थिति तथा स्थानीय विकास योजनाओं में रुचि जैसे क्षेत्रों में शिक्षा सकारात्मक भूमिका निभा सकती है।(11)

शिक्षा और पारिवारिक संरचना - ग्रामीण परिवारों की संरचना और पारिवारिक संबंधों में भी शिक्षा के कारण परिवर्तन दिखाई देता है। संयुक्त परिवार की परंपरा कई क्षेत्रों में कमजोर हुई है और एकल परिवारों की संख्या बढ़ी है। शिक्षा और रोजगार के कारण युवा गाँव से शहरों की ओर जाते हैं, जिससे परिवार की संरचना प्रभावित होती है।

शिक्षा ने विवाह संबंधी दृष्टिकोण में भी परिवर्तन किया है। शिक्षित युवा विवाह की आयु, जीवनसाथी के चयन, परिवार नियोजन और पति-पत्नी के संबंधों के प्रति अधिक आधुनिक दृष्टिकोण अपना रहे हैं।(12)

शिक्षा और सामाजिक गतिशीलता - शिक्षा सामाजिक गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। सामाजिक गतिशीलता व्यक्ति या समूह की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन से है। ग्रामीण समाज में शिक्षा निम्न सामाजिकआर्थिक पृष्ठभूमि के लोगों को आगे बढ़ने के अवसर प्रदान कर सक-ती है। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति सरकारी नौकरी, निजी क्षेत्र, व्यवसाय और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश कर सकता है। इससे उसकी आय, प्रतिष्ठा और सामाजिक स्थिति में सुधार हो सकता है। इस दृष्टि से शिक्षा सामाजिक असमानता को कम करने की क्षमता रखती है।(13)

ग्रामीण शिक्षा की प्रमुख चुनौतियाँ - ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के विस्तार के बावजूद अनेक चुनौतियाँ मौजूद हैं। विद्यालयों में आधारभूत सुविधाओं की कमी, शिक्षकों की अनुपलब्धता, आर्थिक कठिनाइयाँ, विद्यालय छोड़ने की समस्या, डिजिटल विभाजन, उच्च शिक्षा की सीमित सुविधाएँ और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का अभाव प्रमुख चुनौतियों में शामिल हैं। गरीब परिवारों के बच्चों के लिए शिक्षा और परिवार की आय में योगदान के बीच संतुलन बनाना कठिन होता है। कई बच्चे आर्थिक कारणों से विद्यालय छोड़कर काम करने लगते हैं। बालिकाओं के लिए घरेलू कार्य और सुरक्षा संबंधी समस्याएँ भी शिक्षा में बाधा बन सकती हैं।(14)

निष्कर्ष - शिक्षा ने गाँवों की तस्वीर को अनेक स्तरों पर बदलने में योगदान दिया है। शिक्षा ने ग्रामीण व्यक्ति की सोच, आकांक्षा और सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन किया है। महिलाओं की स्थिति में सुधार, युवाओं की बढ़ती आकांक्षाएँ, राजनीतिक जागरूकता, स्वास्थ्य चेतना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, रोजगार के नए अवसर और डिजिटल तकनीक का उपयोग इसके प्रमुख परिणाम हैं।

शिक्षा किसी भी समाज के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास का आधार है। ग्रामीण समाज के संदर्भ में शिक्षा का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि गाँवों में लंबे समय से परंपरागत सामाजिक संरचना, अशिक्षा, जातिगत असमानता, लैंगिक भेदभाव, आर्थिक पिछड़ापन तथा सीमित रोजगार के अवसर जैसी समस्याएँ विद्यमान रही हैं। प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा ने ग्रामीण समाज की सोच, व्यवहार, आकांक्षाओं और जीवन-शैली में महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न किया है। शिक्षा ने गाँवों को केवल साक्षर बनाने का कार्य नहीं किया, बल्कि ग्रामीण समाज में सामाजिक चेतना और परिवर्तन की प्रक्रिया को भी गति प्रदान की है।

शिक्षा के प्रसार से ग्रामीण परिवारों में बच्चों की शिक्षा के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित हुआ है। पहले जहाँ अनेक परिवार बच्चों को कम उम्र में पारंपरिक व्यवसाय या कृषि कार्य में लगा देते थे, वहीं अब शिक्षा को बेहतर भविष्य, सम्मानजनक रोजगार और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने का माध्यम माना जाने लगा है। ग्रामीण युवा उच्च शिक्षा, प्रतियोगी परीक्षाओं, तकनीकी शिक्षा और कौशल विकास की ओर बढ़ रहे हैं। इससे उनकी आकांक्षाओं का विस्तार हुआ है और ग्रामीण समाज में सामाजिक गतिशीलता की संभावनाएँ बढ़ी हैं।

शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव ग्रामीण महिलाओं और बालिकाओं की स्थिति में दिखाई देता है। महिला शिक्षा ने महिलाओं में आत्मविश्वास, अधिकारों के प्रति जागरूकता तथा निर्णय लेने की क्षमता को बढ़ाया है। शिक्षित महिलाएँ स्वास्थ्य, पोषण, परिवार नियोजन, बच्चों की शिक्षा तथा सरकारी योजनाओं के संबंध में अधिक जागरूक होती हैं। पंचायतों और स्थानीय संस्थाओं में महिलाओं की भागीदारी को भी शिक्षा ने अधिक प्रभावी बनाने में सहायता की है। इस प्रकार शिक्षा ग्रामीण महिला सशक्तीकरण की महत्वपूर्ण आधारशिला बन गई है। शिक्षा ने ग्रामीण समाज में सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित करने में भी योगदान दिया है। जातिगत भेदभाव, बाल विवाह, दहेज, लैंगिक असमानता तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जागरूकता बढ़ी है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर भी शिक्षा का सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। शिक्षित किसान आधुनिक कृषि तकनीकों, सरकारी योजनाओं, बैंकिंग सुविधाओं और बाजार संबंधी सूचनाओं का अधिक प्रभावी ढंग से उपयोग कर सकते हैं। ग्रामीण युवाओं ने कृषि के अतिरिक्त विभिन्न रोजगार, व्यवसाय और उद्यमिता के क्षेत्रों में प्रवेश किया है। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था के स्वरूप में विविधता आई है। हालांकि शिक्षित बेरोजगारी और रोजगार के लिए शहरों की ओर पलायन अभी भी गंभीर चुनौतियाँ हैं।

अतः यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शिक्षा गाँवों की तस्वीर बदलने वाली एक बहुत ही महत्वपूर्ण साधन है। शिक्षा ग्रामीण समाज को परंपरागत व्यवस्था से आधुनिक, जागरूक और सहभागी समाज की ओर ले जाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। हालांकि केवल विद्यालयों की संख्या बढ़ाना पर्याप्त नहीं है। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, डिजिटल साक्षरता, कौशल विकास, बालिका शिक्षा, उच्च शिक्षा तक समान पहुँच तथा स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर सुनिश्चित करना आवश्यक है।

भविष्य में ग्रामीण शिक्षा को स्थानीय अर्थव्यवस्था, कृषि, तकनीक, और कौशल विकास से जोड़ना चाहिए। यदि शिक्षा को समान अवसर, गुणवत्तापूर्ण संसाधन और रोजगारपरक प्रशिक्षण के साथ जोड़ा जाए, तो गाँवों में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की गति और तेज हो सकती है। इस दृष्टि से शिक्षा केवल व्यक्तिगत विकास का साधन नहीं, बल्कि **ग्रामीण विकास और सामाजिक परिवर्तन की आधारभूत शक्ति** है।

सन्दर्भ सूची -

1 अग्रवाल, जे. सी. (2014). शिक्षा के सिद्धांत एवं व्यवहार. विकास पब्लिशिंग हाउस।

2 आहूजा, राम. (2014). भारतीय समाज: संस्थाएँ और परिवर्तन. रावत पब्लिकेशन।

3 दुबे, एस. सी. (2012). भारतीय समाज. नेशनल बुक ट्रस्ट।

4 श्रीनिवास, एम. एन. (2012). आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन. राजकमल प्रकाशन।

5 कुमार, कृष्ण. (2013). शिक्षा और समाज. वाणी प्रकाशन।

6 प्रसाद, बी. डी. (2018). ग्रामीण समाजशास्त्र. ज्ञानदा प्रकाशन।

7 सिंह, योगेन्द्र. (2014). भारतीय परंपरा का आधुनिकीकरण. रावत पब्लिकेशन।

8 Desai, S., & Dubey, A. (2012). Caste in 21st century India: Competing narratives. *Economic & Political Weekly, 47*(11), 40–49.

9 Government of India. (2020). *National Education Policy 2020*. Ministry of Human Resource Development.

10 Ministry of Education. (2021). *Educational statistics at a glance*. Government of India.

11 Sen, A. (1999). *Development as freedom*. Oxford University Press.

12 Tilak, J. B. G. (2007). Post-elementary education, poverty and development in India. *International Journal of Educational Development, 27*(2), 173–187.

13 UNESCO. (2021). *Reimagining our futures together: A new social contract for education*. UNESCO.

14 World Bank. (2018). *World development report 2018: Learning to realize education's promise*. World Bank.

भारतीय राजनीति में बी. आर. अम्बेडकर का योगदान : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ. सुषमिता सिन्हा*

शोध सार -

प्रस्तुत शोध अध्ययन का विषय **"भारतीय राजनीति में बी. आर. अम्बेडकर का योगदान : एक ऐतिहासिक विश्लेषण"**है। डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर भारतीय इतिहास के उन महान व्यक्तित्वों में से हैं जिन्होंने सामाजिक न्याय, राजनीतिक समानता, लोकतांत्रिक अधिकारों तथा संवैधानिक शासन की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनका राजनीतिक चिंतन केवल दलित एवं वंचित वर्गों के अधिकारों तक सीमित नहीं था, बल्कि वह भारतीय समाज के व्यापक लोकतांत्रिक पुनर्गठन की परियोजना से जुड़ा हुआ था। अम्बेडकर ने ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना की जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व को लोकतंत्र का आधार बनाया जाए। इस दृष्टि से भारतीय राजनीति में उनका योगदान ऐतिहासिक, वैचारिक और संस्थागत तीनों स्तरों पर महत्वपूर्ण है।

अम्बेडकर का राजनीतिक जीवन भारत की उन परिस्थितियों में विकसित हुआ जब भारतीय समाज जातिगत विभाजन, अस्पृश्यता, सामाजिक असमानता तथा राजनीतिक प्रतिनिधित्व की समस्या से जूझ रहा था। उन्होंने दलितों और अन्य सामाजिक रूप से वंचित समुदायों को राजनीतिक रूप से संगठित करने का प्रयास किया। बहिष्कृत हितकारिणी सभा, स्वतंत्र मजदूर पार्टी तथा शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन जैसे संगठनों के माध्यम से उन्होंने वंचित समुदायों को राजनीतिक आवाज प्रदान की। उन्होंने पृथक निर्वाचक मंडल, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सामाजिक सुरक्षा जैसे प्रश्नों को राष्ट्रीय राजनीतिक विमर्श का हिस्सा बनाया।

भारतीय संविधान निर्माण में अम्बेडकर की भूमिका उनके राजनीतिक योगदान का सबसे महत्वपूर्ण है। संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने समान नागरिकता, मौलिक अधिकारों, विधि के समक्ष समानता, अस्पृश्यता उन्मूलन तथा सामाजिक न्याय की संवैधानिक व्यवस्था को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए प्रतिनिधित्व तथा संरक्षण संबंधी प्रावधानों ने लोकतंत्र को अधिक व्यापक स्वरूप प्रदान किया।

अम्बेडकर ने लोकतंत्र को केवल चुनावी व्यवस्था नहीं माना। उनके लिए लोकतंत्र सामाजिक जीवन की ऐसी पद्धति था जिसमें समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का व्यवहारिक संतुलन हो। उन्होंने राजनीतिक लोकतंत्र की सफलता के लिए सामाजिक लोकतंत्र को आवश्यक माना। इस ऐतिहासिक विश्लेषण का उद्देश्य भारतीय राजनीति में अम्बेडकर के योगदान को उनके राजनीतिक संघर्ष, संवैधानिक विचारों, सामाजिक न्याय की अवधारणा तथा लोकतांत्रिक दृष्टिकोण के संदर्भ में समझना है।

विशिष्ट शब्द - भारतीय राजनीति, सामाजिक न्याय, लोकतंत्र, संविधान, समानता, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, दलित राजनीति, मौलिक अधिकार, सामाजिक लोकतंत्र, अस्पृश्यता आदि।

शोध सारांश - भारतीय राजनीति का विकास स्वतंत्रता प्राप्त करने की प्रक्रिया नहीं था, बल्कि यह सामाजिक असमानताओं को चुनौती देने और लोकतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण की प्रक्रिया भी थी। भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता ने लंबे समय तक करोड़ों लोगों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा। ऐसी परिस्थितियों में डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर का उदय एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना

* सहायक अतिथि प्राध्यापक, AI & AS विभाग, गया कॉलेज, गया
Email Id- **susmitasinha83@gmail.com**, mob. 7991154517, BHLM 220069.

थी। उन्होंने सामाजिक भेदभाव को केवल सामाजिक समस्या न मानकर उसे राजनीतिक और लोकतांत्रिक प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किया।

अम्बेडकर का मानना था कि राजनीतिक स्वतंत्रता तभी सार्थक हो सकती है जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समान सामाजिक और नागरिक अधिकार प्राप्त हों। इसलिए उनका राजनीतिक चिंतन स्वतंत्रता आंदोलन के व्यापक विमर्श के साथ-साथ सामाजिक न्याय के प्रश्न से भी जुड़ा हुआ था।

अम्बेडकर का राजनीतिक चिंतन - अम्बेडकर के राजनीतिक विचारों का मूल आधार स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व था। वे मानते थे कि लोकतंत्र केवल सरकार चुनने की प्रणाली नहीं है, बल्कि यह समाज में समान मानवीय संबंध स्थापित करने की पद्धति है। यदि राजनीतिक लोकतंत्र मौजूद हो, लेकिन समाज में जातिगत असमानता और भेदभाव बना रहे, तो लोकतंत्र कमजोर रहेगा। राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति की गरिमा का विशेष महत्व था। उन्होंने जाति-व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहा कि जाति केवल सामाजिक विभाजन नहीं बल्कि सामाजिक असमानता की ऐसी संरचना है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामूहिक एकता को बाधित करती है। इसलिए राजनीतिक लोकतंत्र के साथ सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना आवश्यक है।

दलित राजनीतिक चेतना का विकास - अम्बेडकर ने भारत में दलित राजनीतिक चेतना को संगठित स्वरूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने शिक्षा, संगठन और संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का आधार बनाया। बहिष्कृत हितकारिणी सभा के माध्यम से उन्होंने शिक्षा और सामाजिक सुधार को बढ़ावा दिया। उन्होंने दलित समुदाय को राजनीतिक रूप से जागरूक करने के लिए विभिन्न संगठनों और आंदोलनों का नेतृत्व किया। स्वतंत्र मजदूर पार्टी के माध्यम से उन्होंने श्रमिकों और वंचित वर्गों के आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों को सामने रखा। बाद में **शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन** के माध्यम से अनुसूचित जातियों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व को मजबूत करने का प्रयास किया।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व की मांग - अम्बेडकर के राजनीतिक संघर्ष का प्रमुख विषय वंचित वर्गों का राजनीतिक प्रतिनिधित्व था। उनका तर्क था कि यदि सामाजिक रूप से उत्पीड़ित समुदायों को राजनीतिक सत्ता और निर्णय प्रक्रिया में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिलेगा, तो उनके हितों की प्रभावी रक्षा नहीं हो सकती। 1930 के दशक में गोलमेज सम्मेलनों में अम्बेडकर ने दलितों के राजनीतिक अधिकारों का प्रश्न मजबूती से उठाया। उन्होंने अलग निर्वाचक क्षेत्र की मांग की ताकि दलित समुदाय अपने प्रतिनिधियों का स्वतंत्र रूप से चयन कर सके। बाद में गांधी और अम्बेडकर के बीच हुए राजनीतिक मतभेद तथा पूना समझौते ने भारतीय राजनीति में प्रतिनिधित्व के प्रश्न को अत्यंत महत्वपूर्ण बना दिया। पूना समझौते के बाद संयुक्त निर्वाचन व्यवस्था के अंतर्गत अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित सीटों की व्यवस्था हुई। इस प्रक्रिया ने स्वतंत्र भारत में राजनीतिक आरक्षण की संवैधानिक व्यवस्था के विकास की पृष्ठभूमि तैयार की।

संविधान निर्माण में योगदान - भारतीय राजनीति में अम्बेडकर के योगदान का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र संविधान निर्माण है। संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने संविधान के निर्माण में केंद्रीय भूमिका निभाई। उन्होंने संवैधानिक लोकतंत्र को मजबूत बनाने के लिए नागरिक अधिकारों, समानता और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को महत्व दिया।

संविधान के अनुच्छेद 14 के माध्यम से विधि के समक्ष समानता तथा अनुच्छेद 15 में भेदभाव के निषेध को संवैधानिक संरक्षण दिया गया। अनुच्छेद 17 ने अस्पृश्यता का उन्मूलन किया। इन प्रावधानों ने भारतीय लोकतंत्र को सामाजिक न्याय की दिशा प्रदान की।

अम्बेडकर का योगदान केवल संविधान के प्रारूप को तैयार करने तक सीमित नहीं था। उन्होंने संवैधानिक संस्थाओं की भूमिका, नागरिक स्वतंत्रता, न्यायपालिका की स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक शासन की आवश्यकता पर भी बल दिया।

सामाजिक न्याय और आरक्षण - अम्बेडकर की राजनीतिक विचारधारा में सामाजिक न्याय का केंद्रीय स्थान था। उनका मानना था कि ऐतिहासिक रूप से वंचित समुदायों को केवल समान अवसर देने की घोषणा पर्याप्त नहीं है। वास्तविक समानता स्थापित करने के लिए विशेष उपाय आवश्यक हैं। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए राजनीतिक प्रतिनिधित्व तथा सार्वजनिक सेवाओं और शिक्षा के क्षेत्र में विशेष अवसरों की संवैधानिक व्यवस्था विकसित हुई। आरक्षण को अम्बेडकर सामाजिक समानता स्थापित करने के लिए एक महत्वपूर्ण एवं सुधारात्मक उपाय के रूप में देखते थे जिसे आज भी उसी नजरिये से देखा जाता है।

महिलाओं के अधिकारों के पक्षधर - अम्बेडकर के राजनीतिक विचारों का एक महत्वपूर्ण पक्ष महिलाओं के अधिकारों से संबंधित है। वे महिलाओं की सामाजिक और कानूनी स्थिति में सुधार के समर्थक थे। कानून मंत्री के रूप में उन्होंने **हिंदू कोड** बिल के माध्यम से महिलाओं को संपत्ति, विवाह और पारिवारिक अधिकारों में अधिक समानता देने का प्रयास किया। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हिंदू कोड बिल को अपेक्षित समर्थन नहीं मिला और अम्बेडकर ने कानून मंत्री के पद से इस्तीफा दे दिया। यह घटना उनके सिद्धांत आधारित राजनीतिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करती है।

श्रमिक राजनीति में योगदान - अम्बेडकर ने श्रमिकों के अधिकारों को भी राजनीतिक विमर्श का महत्वपूर्ण हिस्सा बनाया। उन्होंने श्रमिकों के काम के घंटे, मजदूरी, सामाजिक सुरक्षा और कल्याण से संबंधित प्रश्नों को उठाया। उनके राजनीतिक चिंतन में श्रमिक वर्ग और सामाजिक रूप से वंचित वर्गों के प्रश्न एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। अम्बेडकर की राजनीति को केवल दलित राजनीति के रूप में सीमित करना उचित नहीं होगा। उन्होंने सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र की आवश्यकता पर बल दिया।

धर्म, जाति और राजनीति - अम्बेडकर ने जाति-व्यवस्था की धार्मिक-सामाजिक संरचना की गहरी आलोचना की। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक **Annihilation of Caste** में जाति-व्यवस्था के उन्मूलन की आवश्यकता को विस्तार से प्रस्तुत किया गया। उनका मानना था कि जाति का अंत किए बिना भारतीय समाज में वास्तविक लोकतंत्र स्थापित नहीं किया जा सकता।

बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर 1956 में उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। उनके लिए बौद्ध धर्म समानता, नैतिकता और मानव गरिमा पर आधारित सामाजिक जीवन की संभावना प्रस्तुत करता था। उनका बौद्ध धर्म ग्रहण करना भी सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति की व्यापक परियोजना से जुड़ा हुआ था।

लोकतंत्र और संवैधानिक नैतिकता - अम्बेडकर लोकतंत्र की सफलता के लिए संवैधानिक नैतिकता को आवश्यक मानते थे। उनका विचार था कि संविधान कितना भी अच्छा क्यों न हो, यदि उसे संचालित करने वाले लोग लोकतांत्रिक मूल्यों का सम्मान नहीं करेंगे तो संविधान अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकता।

उनका मानना था की लोकतंत्र को संस्थाओं के साथ-साथ सामाजिक व्यवहार में भी दिखाई देना चाहिए। राजनीतिक सत्ता का उपयोग नागरिक स्वतंत्रता, समानता और न्याय को मजबूत करने के लिए होना चाहिए।

आधुनिक भारतीय राजनीति पर प्रभाव - स्वतंत्र भारत की राजनीति में अम्बेडकर की विचारधारा का प्रभाव लगातार बढ़ा है। दलित राजनीतिक आंदोलनों, सामाजिक न्याय की राजनीति, आरक्षण की बहस और प्रतिनिधित्व के प्रश्नों में अम्बेडकर की वैचारिक उपस्थिति स्पष्ट दिखाई देती है। विभिन्न राजनीतिक दल और सामाजिक संगठन अम्बेडकर की विरासत को अपने-अपने राजनीतिक संदर्भों में प्रस्तुत करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि अम्बेडकर केवल ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं हैं, बल्कि समकालीन भारतीय राजनीति के महत्वपूर्ण वैचारिक संदर्भ भी हैं।

ऐतिहासिक मूल्यांकन - ऐतिहासिक दृष्टि से अम्बेडकर का योगदान तीन प्रमुख स्तरों पर देखा जा सकता है
सामाजिक परिवर्तन
राजनीतिक प्रतिनिधित्व और
संवैधानिक लोकतंत्र।

उन्होंने वंचित समुदायों को राजनीतिक अधिकारों के प्रति जागरूक किया और सामाजिक समानता को राष्ट्रीय राजनीतिक एजेंडे का हिस्सा बनाया। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने सामाजिक न्याय को लोकतांत्रिक शासन की बुनियादी शर्त के रूप में स्थापित किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि स्वतंत्र भारत का लोकतंत्र तभी सफल होगा जब उसके नागरिकों को समान सम्मान और अवसर प्राप्त हों।

निष्कर्ष - भारतीय राजनीति में डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक है। वे केवल संविधान के निर्माता नहीं थे, बल्कि सामाजिक न्याय, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और लोकतांत्रिक समानता के प्रमुख चिंतक थे। उन्होंने दलितों, श्रमिकों, महिलाओं तथा अन्य वंचित समुदायों के अधिकारों को राजनीतिक विमर्श का हिस्सा बनाया।

अम्बेडकर का लोकतंत्र संबंधी विचार आज भी प्रासंगिक है क्योंकि वे राजनीतिक समानता के साथ सामाजिक समानता को अनिवार्य मानते थे। भारतीय संविधान में समानता, स्वतंत्रता, न्याय और अस्पृश्यता उन्मूलन से संबंधित प्रावधान उनके सामाजिक लोकतंत्र संबंधी चिंतन की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति हैं। ऐतिहासिक विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि अम्बेडकर का योगदान भारतीय राजनीति के संस्थागत निर्माण के साथ-साथ उसकी नैतिक एवं सामाजिक दिशा निर्धारित करने में भी रहा। उनकी विरासत भारतीय लोकतंत्र को अधिक समावेशी, न्यायपूर्ण और समानतामूलक बनाने की निरंतर प्रेरणा देती है।

सन्दर्भ सूची

1. Ambedkar, B. R. (1936). Annihilation of caste. Government of Maharashtra.
2. Ambedkar, B.R.(1945).What Congress and Gandhi have done to the Untouchables.Thacker & Co.
3. Ambedkar, B. R. (1946). Who were the Shudras? How they came to be the fourth Varna in the Indo-Aryan society. Thacker & Co.
4. Ambedkar, B. R. (1946). States and minorities: What are their rights and how to secure them in the Constitution of free India. Thacker & Co.
5. Ambedkar, B. R. (1955). Thoughts on linguistic states. Thacker & Co.
6. Ambedkar, B. R. (1987). Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and speeches (Vols. 1-17). Government of Maharashtra.
7. Keer, D. (1971). *Dr.* Ambedkar: Life and mission. Popular Prakashan.
8. Jaffrelot, C. (2005). Dr Ambedkar and untouchability: Analysing and fighting caste. Columbia University Press.
9. Omvedt, G. (1994). Dalits and the democratic revolution: Dr. Ambedkar and the Dalit movement in colonial India. Sage Publications.
10. Zelliot, E. (1992). From untouchable to Dalit: Essays on the Ambedkar movement. Manohar Publishers & Distributors.
11. Rodrigues, V. (Ed.). (2002). The essential writings of B. R. Ambedkar. Oxford University Press.
12. जाटव, डी. आर. (1997). डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक दर्शन. समता साहित्य सदन।
13. कश्यप, सुभाष. (2010). भारतीय संविधान और राजनीतिक व्यवस्था. नेशनल बुक ट्रस्ट, भारत।

बिहार में महिला शिक्षा एवं महिला विकासः संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ

डॉ. मनीषा कुमारी*
सुधीर कुमार**

अमूर्त

महिला विकास में शिक्षा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह महिलाओं को न केवल बौद्धिक और व्यावसायिक कौशल प्रदान करती है, बल्कि उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सशक्तिकरण को भी सुनिश्चित करती है। शिक्षित महिलाएँ अधिक आत्मनिर्भर, जागरूक और निर्णय लेने में सक्षम होती हैं। शिक्षा महिलाओं को लैंगिक भेदभाव, बाल विवाह, घरेलू हिंसा और अन्य सामाजिक कुरीतियों से लड़ने की शक्ति प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त, शिक्षित महिलाएँ बेहतर रोजगार के अवसर प्राप्त कर आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनती हैं, जिससे उनका जीवन स्तर बेहतर होता है। साथ ही, शिक्षा महिलाओं को स्वास्थ्य, परिवार नियोजन और बाल कल्याण जैसे मुद्दों पर सशक्त निर्णय लेने के लिए सक्षम बनाती है। एक नारी को शिक्षित करने का अर्थ एक परिवार को शिक्षित करना है। शिक्षित महिला न केवल स्वंय लाभान्वित होती है बल्कि उससे भावी पीढ़ी भी लाभान्वित होती है। ***महिला शिक्षा के बारे में सुप्रसिद्ध समाजसेविका दुर्गाबाई देशमुख का कहना था कि 'एक लड़के की शिक्षा एक व्यक्ति की शिक्षा है जबकि एक लड़की की शिक्षा पूरे परिवार की शिक्षा है।'*** *इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में स्त्रियों की अशिक्षा ही शिक्षा के लोकव्यापीकरण में सबसे बड़ी बाधा है।*

भारत में परंपरागत तथा रूढ़िवादी समाज में भी महिला साक्षरता को अनावश्यक समझा जाता रहा है, जिसके परिणामस्वरूप वर्तमान में भी महिला साक्षरता की स्थिति बेहद दयनीय बनी हुई है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध समाज सुधारक ***महात्मा ज्योतिबा फुले की भी यह स्पष्ट राय थी कि ''कोई भी समाज तब तक सच्चे अर्थों में शिक्षित नहीं हो सकता जब तक उस समाज की महिलाएं शिक्षित नहीं हो जातीं। एक शिक्षित महिला परिवार में जो सुसंस्कार डाल सकती है वो कार्य हजार अध्यापक तथा गुरूजी भी नहीं कर सकते हैं।''*** *जब तक देश की आबादी का आधा भाग (नारी समाज) शिक्षित नहीं हो जाता तब तक कोई भी देश समग्र प्रगति कैसे कर सकता है?*

प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य भारत में महिला शिक्षा एवं महिला विकास का विश्लेषण करना है। इसमें प्राथमिक एवं द्वितीयक तथ्यों के आधार पर भारत में महिला शिक्षा एवं महिला विकास के वर्तमान परिदृश्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह अध्ययन सरकारी नीतियों और सामाजिक प्रयासों की समीक्षा करते हुए सुझाव देता है कि महिला शिक्षा को प्रभावी बनाने के लिए नीति–निर्माण, सामाजिक सहयोग और जागरूकता अभियानों को मजबूत करने की आवश्यकता है।

कुंजी शब्द: *महिला विकास,, महिला सशक्तिकरण, महिला शिक्षा, सामाजिक कुरीतियां, आर्थिक स्वावलंबन, सामाजिक विकास।*

भूमिकाः

किसी भी राष्ट्र के विकास में उस क्षेत्र में निवास कर रहे मानव संसाधनों का योगदान बेहद महत्वपूर्ण होता है। ''मानव इतिहास भी इस बात का गवाह रहा है कि विश्व में विभिन्न युगों में निर्मित होने वाली गौरवाशाली विश्व सभ्यताओं के निर्माण तथा विकास का श्रेय मानव को ही जाता है। इस प्रकार जिस राष्ट्र का मानव संसाधन जितना अधिक शिक्षित तथा बुद्धिजीवी होगा वह राष्ट्र उतना ही अधिक प्रगतिशील तथा विकसित होगा।''[1]

सामाजिक क्षेत्र के अन्तर्गत मानव विकास के संघटको में शिक्षा सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण संघटक है। शिक्षा राज्य के वर्तमान सामाजिक दर्पण और बेहतर भविष्य की आधारशिला है। किसी देश अथवा राज्य के आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए बेहतर शिक्षा व्यवस्था अनिवार्य आवश्यकता होती है। ''पुरुषों ने

* असिस्टेंट प्रोफेसर (शोध–निर्देशिका), समाजशास्त्र विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा
** पी–एच0डी0 शोधार्थी, समाजशास्त्र विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

वर्षों से नारी को सरस्वती की वंदना से विमुख रखा और नारी अपनी विवशता की जंजीरों से जकड़ी हुई अपने को शिक्षित करने का इंतजार करती रही। समय के साथ–साथ समाज–सुधारकों के प्रयास और कानून व्यवस्था के कारण आज के समय में महिला शिक्षित भी हो रही है और बाह्य जगत् में प्रवेश भी कर रही है। साथ ही राष्ट्र के निर्माण में अपना योगदान भी दे रही है।''[2] यानि कि शिक्षा महिला सशक्तिकरण का एक महत्वपूर्ण साधन है। किसी भी देश की वास्तविक उन्नति तब तक संभव नहीं हो सकती, जब तक उस देश की स्त्रियाँ पुरुषों के समान उन्नतिशील न हो। प्राचीन भारत में स्त्रियों को समाज में आदर का स्थान प्राप्त था और वे विद्या तथा बुद्धि में पुरुषों की बराबरी करती थी लेकिन बीच का ऐसा युग आया जिसने स्त्रियों को अज्ञान और अंधकार के युग में धकेल दिया और वे सामाजिक कुरीतियों का शिकार बन गईं। लेकिन जब से राष्ट्रीय चेतना का युग प्रारम्भ हुआ तब से देश की स्त्रियों में भी जागृति दिखी ये सब शिक्षा के कारण हुआ।

सारणी संख्या–1.1

भारत में 1951 से 2011 तक लिंगवार साक्षरता–दर (प्रतिशत में)[3]

वर्ष	कुल साक्षरता दर	महिला साक्षरता दर	पुरूष साक्षरता दर
1951	18.33	8.86	27.16
1961	28.31	15.34	44.46
1971	34.45	21.97	45.95
1981	43.56	27.75	56.37
1991	52.17	39.42	63.76
2001	65.38	54.16	64.13
2011	74.04	82.14	65.46

स्रोतः भारत की जनगणना, 2011 एवं भारत में महिलाएं एवं पुरूष, 2023.

आंकड़ों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि हमारे यहां साक्षरता दर में तो लगातार वृद्धि हुई है लेकिन जनसंख्या बढ़ने के कारण निरक्षरों की कुल संख्या भी तेजी से बढ़ी है। विभिन्न राज्यों में भी महिलाओं की शिक्षा के स्तर पर काफी अंतर है।

सारणी संख्या–1.2

1951–2011 तक भारत में स्कूली शिक्षा में सकल नामांकन अनुपात[4]

	प्राथमिक (I-V)			मिडिल (VI-VIII)			प्रारंभिक (I-VIII)		
वर्ष	लड़का	लड़की	कुल	लड़का	लड़की	कुल	लड़का	लड़की	कुल
1950-51	60.6	24.8	42.6	20.6	4.6	12.7	46.2	17.7	32.1
1960-61	82.6	41.4	62.4	33.2	11.3	22.5	65.2	30.9	48.7
1970-71	95.5	60.5	78.6	46.5	20.8	33.4	75.5	44.4	61.9
1980-81	95.8	64.1	80.5	54.3	28.6	41.9	82.2	52.1	67.5
1990-91	114.0	85.5	100.1	76.6	47.0	62.1	100.0	70.8	86.0
2000-01	104.9	85.9	95.7	66.7	49.9	58.6	90.3	72.4	81.6
2001-11	110.5	92.5	101.2	72.6	58.6	66.6	93.2	75.4	84.3

***Source**: National Centre for Educational Statistics*

सारणी संख्या 4.5 में जनगणना 1951–2011 के अनुसार भारत में 1951–2011 तक भारत में स्कूली शिक्षा में सकल नामांकन अनुपात का विवरण दिया गया है। इसके अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि 1951 में भारत में प्राइमरी शिक्षा में लड़कियों का सकल नामांकन अनुपात 24 करोड़ से बढ़कर 2011 में 92.5 करोड़ तक, मिडिल स्तर की शिक्षा में 4 करोड़ से बढ़कर 58.6 करोड़ एवं माध्यमिक स्तर की शिक्षा में 17 करोड़ से बढ़कर 75.4 करोड़ तक पहुंच गया। आंकड़ो से यह दिख रहा है कि 1951 से ही भारत में स्कूली शिक्षा में लड़कियों का सकल नामांकन अनुपात बढ़ रहा है।

सारणी संख्या–1.3

भारत में 2012–13 से 2023–24 तक उच्चतर शिक्षा (स्नातक एवं उपर) में लिंगवार सकल नामांकन अनुपात[5]

वर्ष	पुरूष जीईआर	महिला जीईआर	कुल जीईआर
2012-13	22.8	20.2	21.6
2013-14	23.6	21.9	22.8
2014-15	24.5	22.9	23.7
2015-16	24.2	23.0	23.7
2016-17	24.3	23.8	24.1
2017-18	24.5	24.6	24.6
2018-19	24.4	25.5	24.9
2019-20	24.8	26.4	25.6
2020-21	26.7	27.9	27.3
2021-22	28.3	28.5	28.4
2022-23	N.A.	N.A.	N.A.
2023-24	N.A.	N.A.	N.A.

स्रोतः एआईसएचई 2012–13 से एआईसएचई 2023–24 तक

सारणी संख्या 4.6 में भारत में 2012–13 से 2023–24 तक उच्चतर शिक्षा (स्नातक एवं उपर) में लिंगवार सकल नामांकन अनुपात का विवरण दिया गया है। इसके अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि 2012–13 में भारत में उच्च शिक्षा में लड़कियों का सकल नामांकन अनुपात 20 प्रतिशत से बढ़कर 2021–22 में 28.5 प्रतिशत तक पहुंच गया। जबकि इसी अवधि में पुरूषों में 22 प्रतिशत से बढ़कर 28.3 प्रतिशत तक पहुंच गया एवं कुल अनुपात 21 प्रतिशत से बढ़कर 28.4 प्रतिशत तक पहुंच गया। इस प्रकार उच्च शिक्षा में भी महिलाओं की भागीदारी निरंतर बढ़ रही है।

सारणी संख्या–1.4

भारत में उच्च शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर सकल नामांकन अनुपात में महिलाओं की भागीदारी (1980–81 से 2019–20 तक)[6]

वर्ष	1980-81		1990-91		2000-01		2010-11		2019-20	
	पुरूष	महिला	पुरूष	महिला	पुरूष	महिला	पुरूष	महिला	पुरूष	महिला
पी–एच.डी.	N.A.	N.A.	N.A.	N.A.	64.77	35.23	61.64	38.36	54.83	45.17
एम.ए.	62.12	37.88	62.09	37.91	63.42	36.58	47.03	52.97	37.66	62.34
एम.एस.सी.	68.37	31.63	66.13	33.87	55.54	44.46	50.18	49.82	37.48	62.52
एम.कॉम.	92.37	7.63	81.08	18.92	62.29	37.71	48.78	51.22	36.68	63.32
बी.ए./बी.ए.ऑनर्स	64.22	35.78	59.89	40.11	61.88	38.12	50.63	49.37	46.59	53.41
बी.एससी./बी.एससी. ऑनर्स	73.12	26.88	62.87	37.13	62.53	37.47	54.23	45.77	48.58	41.42
बी.कॉम./बी.कॉम. ऑनर्स	85.98	14.02	75.57	24.43	64.55	35.45	58.29	41.71	51.22	48.78
बी.ई./बी.ई.ईंजी.										
बी.ई./बी.टेक	96.43	3.57	89.11	10.89	77.70	22.30	70.59	29.41	70.78	29.22
बी.एड./बी.टी	59.14	40.86	55.8	44.2	57.19	42.81	38.70	61.30	34.03	65.97
एमबीबीएस	75.73	24.27	65.74	34.26	59.45	40.55	60.82	39.18	50.19	49.81

स्रोतः एआईसएचई 1980–81 से एआईसएचई 2019–20 तक

सारणी संख्या 4.7 में भारत में उच्च शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर सकल नामांकन अनुपात में महिलाओं की भागीदारी (1980–81 से 2019–20 तक) का विवरण दिया गया है। इसके अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि 2000–01 में भारत में पी–एचडी में लड़कियों का सकल नामांकन अनुपात 35 प्रतिशत से बढ़कर

2019–20 में 45 प्रतिशत तक पहुंच गया। जबकि इसी अवधि में एमबीबीएस में 40 प्रतिशत से बढ़कर 49 प्रतिशत तक पहुंच गया एवं बीटेक में 22 प्रतिशत से बढ़कर 29 प्रतिशत तक पहुंच गया। इस प्रकार उच्च शिक्षा के विविध पाठ्यक्रमों में भी महिलाओं की भागीदारी निरंतर बढ़ रही है।

सारणी संख्या–1.5

भारत में विभिन्न शैक्षिक स्तरों पर प्रति 100 पुरूष शिक्षकों पर महिला शिक्षिकाओं की संख्या (2013–14 से 2023–24 तक)[7]

वर्ष	प्राइमरी	मिडिल	माध्यमिक	उच्च माध्यमिक
2013-14	101	78	67	17
2014-15	104	81	70	71
2015-16	105	83	72	73
2016-17	106	85	73	74
2017-18	110	87	75	73
2018-19	120	93	77	79
2019-20	125	92	82	76
2020-21	125	93	83	77
2021-22	126	93	84	78
2022-23	131	103	85	77
2023-24	136	104	87	81

स्रोतः शैक्षणिक सांख्यिकी यूडायसः 2013–14 से 2023–24 तक, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

सारणी संख्या 4.8 में भारत में स्कूली शिक्षा के विभिन्न शैक्षिक स्तरों पर प्रति 100 पुरूष शिक्षकों पर महिला शिक्षिकाओं की संख्या (2013–14 से 2023–24 तक) का विवरण दिया गया है। इसके अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि 2013–13 में प्रथमिक स्तर पर प्रति 100 पुरूष शिक्षकों पर महिला शिक्षिकाओं की संख्या 101 से बढ़कर 2023–24 में 136, मिडिल स्तर पर 78 से बढ़कर 2023–24 में 104, माध्यमिक स्तर पर 67 से बढ़कर 2023–24 में 87 एवं उच्च माध्यमिक स्तर पर 17 से बढ़कर 2023–24 में 81 तक पहुंच गया। इस प्रकार स्कूली शिक्षा के विभिन्न शैक्षिक स्तरों पर प्रति 100 पुरूष शिक्षकों पर महिला शिक्षिकाओं की संख्या निरंतर बढ़ रही है।

बिहार में महिला शिक्षाः

बिहार राज्य प्राचीनकाल से ही शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र रहा है। यहां स्थित नालन्दा विश्वविद्यालय, विक्रमशिला विश्वविद्यालय, वज्रासन और ओदंतपुरी विश्वविद्यालय से पूरा विश्व ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हुआ करता था। इसके बाद के कालखण्ड में भी शिक्षा की स्थिति कमोवेश अच्छी बनी रही। अंग्रेजो ने भी यहां शिक्षा के क्षेत्र में कई प्रयोग किए, जिसका स्वतंत्रता आंदोलन पर व्यापक असर पड़ा। वर्तमान समय में बिहार राज्य में कार्यरत राज्य विश्वविद्यालयों की सं0 12, डीम्ड विश्वविद्यालय की सं 02, निजी विश्वविद्यालय की सं 07, केन्द्रीय विश्वविद्यालय की सं0 2, राष्ट्रीय महत्व के संस्थानों की सं 08, बिहार स्वास्थ्य विज्ञान संस्थान 1, बिहार इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय 1 एवं एक आई0आई0एम0 संस्थान संचालित है। बिहार राज्य में वर्ष 2021–22 में 1087 महाविद्यालय थे जिसमें से 272 राजकीय, 808 स्थानीय/सम्बद्धता प्राप्त महाविद्यालय, 2 स्नातकोत्तर केन्द्र और 5 मान्यता प्राप्त केन्द्र स्थित है। राज्य में 63 शिक्षा/शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र, 64 तकनीकी पॉलिटेक्निक संस्थान संचालित है। किन्तु वर्ष 2023 में बिहार सरकार ने जाति आधारित सर्वेक्षण रिपोर्ट जारी किया। इस रिपोर्ट के मुताबिक बिहार की कुल आबादी 13.07 करोड़ बताई गयी है। इस जाति आधारित गणना के सामाजिक–आर्थिक आंकड़ो से पता चलता है कि राज्य में स्नातक की आबादी महज 7 प्रतिशत है। स्नातकोत्तर की संख्या 1 प्रतिशत से भी कम (0.82) प्रतिशत है। जबकि 22.67 प्रतिशत आबादी केवल पांचवी कक्षा तक की है। इस के अलावा कक्षा 6 से 8 तक की शिक्षा 14.33 प्रतिशत कक्षा 9 से 10 तक की शिक्षा प्राप्त लोगों की संख्या 9.9 है। इसमें सामान्य वर्ग 14 53 प्रतिशत, पिछड़ा वर्ग 7.14 प्रतिशत, अतिपिछड़ा वर्ग 4.4 प्रतिशत, अनुसूचित जाति 3.1 प्रतिशत और अनुसूचित जनजाति 3.53 प्रतिशत ही साक्षर एवं उच्च शिक्षा प्राप्त है। अभी भी 45.28 प्रतिशत निरक्षर हैं।

सारणी संख्या–1.6
बिहार में महिला शिक्षा की प्रगतिः 1991 से 2011 तक (प्रतिशत में)[8]

बिहार में शिक्षा			
शिक्षा का स्तर	**कुल व्यक्ति**	**पुरूष**	**महिला**
साक्षर	1,715,049	1,109,731	605,318
प्राथमिक से नीचे	7,890,329	4,754,137	3,136,192
प्राथमिक	8,334,709	5,130,917	3,203,792
मध्य विद्यालय	4,390,226	3,012,151	1,378,075
माध्यमिक	4,751,560	3,439,918	1,311,642
उच्च माध्यमिक	1,826,093	1,385,282	440,811
तकनीकी डिप्लोमा	24,989	20,088	4,901
गैर–तकनीकी डिप्लोमा	48,532	40,458	8,074
स्नातक एवं अधिक	2,109,415	1,737,651	371,764
अवर्गीकृत	18,675	14,043	4,632

स्रोतः भारत की जनगणना, 2011.

निष्कर्षः

हम स्वतंत्रता के बाद से 7 दशकों से अधिक समय की यात्रा कर चुके हैं। हमारी सभी नीतियों का ध्येय समता और सामाजिक न्याय सहित तीव्र और संतुलित आर्थिक विकास बताया गया है। आज वर्तमान युग में शिक्षा के माध्यम से महिलाओं में जागरूकता आयी है। वे अपने बारे में सोचने लगी है। उन्होंने महसूस किया है कि घर से बाहर भी जीवन है। महिलाओं में आत्मविश्वास का संचार हुआ है। उनके व्यक्तित्व में निखार आया है। महिलायें न केवल सामान्य शिक्षा, विश्वविद्यालय तथा कॉलेजों में भी जा रही हैं जिसके फलस्वरूप मुख्यमंत्री, राज्यपाल तथा राष्ट्रपति भी बन रहीं हैं। एवरेस्ट पर विजय प्राप्त कर रहीं हैं, वायु सेना और नौसेना में भी अपनी सेवा प्रदान कर रही हैं। शिक्षा के विकास के फलस्वरूप ही आज इस आधुनिक दौर में भी महिलायें अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं।

संदर्भः

1. देसाई, नीरा एवं ठक्कर, उषा. 2001. भारतीय समाज में महिलाएं, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, पृ0–25 से 28.
2. जोशी, गोपा. 2015. *''भारत में स्त्री असमानताः एक विमर्श ''* कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पृ0–65.
3. भारत की जनगणना, 2011 एवं भारत में महिलाएं एवं पुरूष, 2023.
4. *National Centre for Educational Statistics*
5. एआईसएचई 2012–13 से एआईसएचई 2023–24 तक।
6. एआईसएचई 1980–81 से एआईसएचई 2019–20 तक।
7. शैक्षणिक सांख्यिकी यूडायसः 2013–14 से 2023–24 तक, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार।
8. भारत की जनगणनाः1951–2011.
9. सारस्वत, स्वपनिल. 2007. महिला विकास, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 72–73.

ब्रिटिश कालीन स्थायी बन्दोबस्ती व्यवस्था का भारत के छोटानागपुर क्षेत्र में सामाजिक एवं आर्थिक प्रभाव

शिखा रानी महतो*

शोध–सार :

प्रस्तुत अध्ययन ''ब्रिटिश कालीन स्थायी बन्दोबस्ती व्यवस्था का भारत के छोटानागपूर क्षेत्र में सामाजिक एवं आर्थिक प्रभाव' का अध्ययन है। भारत पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव हमारे इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने धीरे–धीरे भारत पर अपना नियंत्रण स्थापित करना शुरू किया। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद, भारत ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बन गया। ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था, और संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला। भारत में राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करने के लिए अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य मुख्य रूप से देश की आर्थिक और वाणिज्यिक स्थितियों के शोषण से जुड़ा था। वे ब्रिटिश माल के लिए इस देश में एक औपनिवेशिक बाजार स्थापित करना चाहते थे। भारत की आर्थिक स्थितियों पर ब्रिटिश प्रभाव वास्तव में विनाशकारी और हानिकारक था। ब्रिटेन ने भारत के विशाल समृद्ध आर्थिक भंडार के दोहन के लिए सबसे जटिल तरीकों का इस्तेमाल किया।

कुंजिका : भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक दल, स्थापना, ब्रिटिश शासन, सुरक्षा इत्यादि।

प्रस्तावना : भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रभाव न केवल राजनीतिक, बल्कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी गहरा था। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारतीय समाज को एक नए रूप में ढालने की कोशिश की और अनेक संस्थाओं, परंपराओं तथा जीवनशैली में बदलाव किया। भारतीय उपमहाद्वीप में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रभाव लगभग दो शताब्दियों तक रहा, जिसमें भारतीय समाज की संरचना और विकास में व्यापक बदलाव आये। ब्रिटिश साम्राज्य का भारत में आगमन 17वीं सदी के मध्य हुआ, जब ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत के तटीय क्षेत्रों में व्यापारिक उपस्थिति स्थापित की। इसके बाद धीरे–धीरे ब्रिटिशों ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया और 1857 के विद्रोह के बाद ब्रिटिश शासन सीधे भारत पर कायम हो गया।

इतिहास के पन्नों को अगर हम देखें तो पाते है कि ब्रिटिश साम्राज्य में जहॉ भारत के सभी प्रांतो में अपना कब्जा जमा रखा था और नियत पूरे देश को खोखला करने की थी ऐसी मन्सा को दमन करने हेतु विभिन्न आंदोलन और मुक्ति अभियान चलाए गये है । किन्तु ब्रिटिशों द्वारा जो आबाज ईस्ट इंडिया के खिलाफ उठी थी उन्हें कुचलने में अंग्रेजी अधिकारीयों ने कोई कसर नही छोड़ा और वे धीरे–धीरे पुरे प्रांतो में कब्जा जमा लिया।[1] चूँकी 1721 ई0 में मुगल साम्राज्य के आखरी शासक बहादुर साहजफर एक कमजोर शासक के रूप में दिखाई पड़ते है और उनके शासन काल में जमीने (अखंड भारत) सिकुड़ता चला गया । जहॉ कहीं कुछ जमींदार अंग्रेजो के तलवे चाटते नजर आते है तो वहीं कई शासक बिद्रोह करते भी नजर आते है ।

इस प्रकार जैसे–जैसे ईस्ट इंडिया कंपनी की बरर्चस्प बढ़ती गई और उद्योग के नाम पर भारतीयों को ढ़गा जाने लगा जहॉ पर पूँजीपतियों ने अंग्रेजो के सामने नतमस्तक हो गये । किन्तु आम गरिब भारतीयों का दमन और शोषण शुरू हो गया था। यही कारण है कि मुलग सम्राज्य का पतन होने लगा और शासकों में आपसी फुट भी होने लगी जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटिश इंडिया ने पुरे भारत में अपना पैर जमा लिया।[2]

जहॉ तक छोटानागपूर में ईस्ट इंडिया कम्पनी के होने का प्रश्न है । इस संदर्भ में कई इतिहासकारो ने उल्लेख किया है कि चुँकि यह क्षेत्र आदिवासी समाज से जुड़ा हुआ है और इस क्षेत्र में अत्याधिक संथाली परगना के लोग रहते है और ये जमीन से एवं कुदरत दी गयी सभी चिजो को सम्मान के रूप में और अपने व्यवहार के रूप में रखते है इसलिए जमीनों का छीनना और अंग्रेजो की बरबरता ने इस

* शोध छात्रा, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
E-mail : shikharanimahato84@gmail.com

क्षेत्र में भिषण विद्रोह किया । किन्तु अंग्रेजो के आगे इन संथालियों कि एक न चली और ईस्ट इंडिया कंपनी पूरी तरह से क्षेत्र में काविज रही । जहॉ तक एतिहासिक संदर्भ में देखना है कुछ पुस्तकों में बिद्रोहीयों कि सूची के रूप में बिरसा मुंडा, पाण्डेय गणपत राय और तिलका मॉझी जैसे क्रांतिकारियों कि चर्चा कि गयी है जिन्होंने जमीन बचाने के लिए अपनी सहादत भी दी है।[3]

ब्रिटिश शासन के सकारात्मक प्रभाव

आधुनिक शिक्षा प्रणाली की नींव

ब्रिटिश शासन के तहत भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली की शुरुआत हुई। 1835 में लॉर्ड मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा दिया, जिससे भारतीयों को पश्चिमी विज्ञान, प्रौद्योगिकी और साहित्य की जानकारी मिली। इस शिक्षा प्रणाली ने समाज और राजनीति में जागरूकता फैलाने में अहम योगदान दिया।

अधोसंरचना का विकास

ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में रेलवे, टेलीग्राफ और डाक व्यवस्था को विकसित किया गया। 1853 में मुंबई और ठाणे के बीच पहली रेल सेवा शुरू हुई, जिससे देश के विभिन्न हिस्सों को जोड़ने और व्यापार को बढ़ावा देने में मदद मिली।

सामाजिक सुधारों की शुरुआत

भारतीय समाज में फैली कई बुराइयों को समाप्त करने में ब्रिटिश शासन ने भूमिका निभाई। सती प्रथा, बाल विवाह और दास प्रथा पर प्रतिबंध लगाया गया। समाज सुधारकों जैसे राजा राममोहन राय को अंग्रेजों का समर्थन मिला, जिससे समाज में सकारात्मक बदलाव आए।[4]

प्रशासनिक और कानूनी सुधार

ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में संगठित प्रशासनिक और न्यायिक प्रणाली की स्थापना हुई। भारतीय दंड संहिता और भारतीय साक्ष्य अधिनियम जैसे कानून लागू किए गए, जो आज भी भारतीय न्याय व्यवस्था का हिस्सा हैं।

ब्रिटिश शासन के नकारात्मक प्रभाव

आर्थिक शोषण

ब्रिटिश नीतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को गंभीर रूप से प्रभावित किया। भारत को कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता और ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं के बाजार के रूप में इस्तेमाल किया गया। भारतीय उद्योग, विशेष रूप से कपड़ा उद्योग, को बर्बाद कर दिया गया, जिससे लाखों कारीगर बेरोजगार हो गए।

सामाजिक विभाजन और 'फूट डालो, राज करो' नीति

ब्रिटिश शासन ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाई, जिससे भारतीय समाज में धार्मिक और जातिगत विभाजन गहरा हुआ। यह विभाजन स्वतंत्रता के बाद भी सामाजिक तनाव का कारण बना।

भारतीय संस्कृति पर प्रभाव

ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय भाषाओं, साहित्य और कला को उपेक्षित किया गया। अंग्रेजी भाषा और संस्कृति को प्राथमिकता दी गई, जिससे भारतीय समाज में आत्मसम्मान की भावना प्रभावित हुई।

औद्योगीकरण और नई क्रांति की शुरुआत

ब्रिटिश शासन के दौरान औद्योगिक क्रांति का प्रभाव भारत में देखने को मिला। हालांकि इसका मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश हितों की पूर्ति था, लेकिन इसने भारतीयों को आधुनिक तकनीक और व्यापार की अहमियत समझने का अवसर भी दिया। रेलवे, बंदरगाह और उद्योगों के विस्तार ने स्वतंत्रता संग्राम के लिए आर्थिक और सामाजिक जागरूकता को बढ़ावा दिया।

शिक्षा और जागरूकता का प्रभाव

ब्रिटिश शासन ने भारत में एक नई शिक्षा प्रणाली विकसित की, जिससे स्वतंत्रता संग्राम के लिए एक सशक्त पीढ़ी तैयार हुई। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस जैसे नेता पश्चिमी शिक्षा प्राप्त कर भारतीय समाज को जागरूक करने में सफल रहे।

भारतीय समाज और संस्कृति पर गहरा प्रभाव

ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय कृषि व्यवस्था, उद्योग और पारंपरिक शिल्पकला बुरी तरह प्रभावित हुए। धार्मिक सहिष्णुता, जो भारतीय संस्कृति का अभिन्न हिस्सा थी, ब्रिटिश नीतियों के कारण कमजोर हो गई।

34 ब्रिटिश कालीन स्थायी बन्दोबस्ती व्यवस्था का भारत के छोटानागपुर क्षेत्र में सामाजिक एवं आर्थिक प्रभाव

1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद मुगल सम्राट बहादुर शाह जफर को सत्ता से बेदखल कर रंगून निर्वासित कर दिया गया, जिससे भारतीय इतिहास के एक महत्वपूर्ण युग का अंत हुआ। हिंदू और मुस्लिम समुदायों के बीच बढ़ती दरारें ब्रिटिश नीतियों की देन थीं, जिन्होंने भारतीय समाज को गहराई से प्रभावित किया और विभाजन की नींव रखी।

कृषि पर प्रभाव

ब्रिटिश शासन के दौरान भूमि राजस्व राज्य की आय का प्रमुख स्रोत था। ब्रिटिश सरकार भारत में कृषि को मुख्य रूप से इंग्लैंड के उद्योगों के लिए सस्ता कच्चा माल प्रदान करने वाले क्षेत्र के रूप में विकसित करना चाहती थी। इसके लिए ईस्ट इंडिया कंपनी ने किसानों पर दमनकारी नीतियाँ लागू कीं और भूमि राजस्व को अधिकतम करने के कई प्रयोग किए।

भूमि राजस्व प्रणाली धीरे–धीरे पुरानी हो गई, जिसके समाधान के रूप में 1793 में लॉर्ड कार्नवालिस ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में 'स्थायी बंदोबस्त' प्रणाली लागू की। इस प्रणाली के तहत जमींदारों को भूमि पर स्थायी स्वामित्व प्रदान किया गया। वहीं, बॉम्बे और मद्रास प्रेसीडेंसी के अधिकांश हिस्सों में रैयतवाड़ी प्रणाली लागू की गई, जिसमें ब्रिटिश प्रशासकों ने सीधे किसानों से कर वसूलने का निर्णय लिया। पंजाब, उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में महलवारी प्रणाली अपनाई गई, जो किसानों के लिए बेहद कठिन साबित हुई।

इन जटिल कर प्रणालियों के चलते किसानों को मजबूरन साहूकारों से ऊँची ब्याज दरों पर ऋण लेना पड़ा। अधिकतर गरीब किसान यह ऋण चुका पाने में असमर्थ रहे और धीरे–धीरे अपनी जमीन खो बैठे। इस दमनकारी व्यवस्था के कारण भारत में लगातार अकाल पड़ने लगे, जिससे कृषि व्यवसाय बुरी तरह प्रभावित हुआ और ग्रामीण अर्थव्यवस्था कमजोर हो गई।

भारतीय उद्योगों पर ब्रिटिश शासन का आर्थिक प्रभाव

ब्रिटिश शासन के कारण भारतीय उद्योगों को बड़े पैमाने पर नुकसान उठाना पड़ा। 18वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में ब्रिटेन ने भारतीय कपड़ों के आयात पर भारी कर लगा दिया, जिससे भारतीय वस्त्र उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ा। नेपोलियन युद्धों के बाद भारत को अंग्रेजों के लिए मुक्त व्यापार के लिए खोल दिया गया, जिससे भारतीय हस्तशिल्प उद्योग अपना प्रमुख बाजार खो बैठा।

ब्रिटिश सरकार की एकतरफा मुक्त व्यापार नीति ने भारतीय कारीगरों और दस्तकारों की आजीविका छीन ली। इसके परिणामस्वरूप भारतीय कुटीर उद्योग बुरी तरह प्रभावित हुए। मिट्टी के बर्तन, टेनिंग, ऊनी और रेशम के वस्त्र, धातु निर्माण और कागज उद्योग जैसे पारंपरिक व्यवसायों को भारी नुकसान हुआ, जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था और कमजोर हो गई।[5]

औद्योगिक क्रांति के नकारात्मक प्रभाव भारत पर भी पड़े। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कारण देश में स्वतंत्र औद्योगीकरण की प्रक्रिया शुरू नहीं हो सकी। ब्रिटेन की प्राथमिकता भारत को एक कृषि–प्रधान उपनिवेश के रूप में बनाए रखना था, जिससे वह अपने उद्योगों के लिए सस्ता कच्चा माल प्राप्त कर सके और अपने तैयार उत्पादों के लिए बाजार तैयार कर सके। हालाँकि, प्रथम विश्व युद्ध के दौरान कुछ भारतीय उद्योग विकसित हुए, लेकिन वे ब्रिटिश नीति के अधीन ही सीमित रहे।

साहित्य की समीक्षा

छोटानागपुर क्षेत्र में ब्रिटिश कालीन भूमि–राजस्व व्यवस्था, स्थायी बन्दोबस्ती, जमींदारीकरण, पारंपरिक खूँटकट्टी एवं भुइँहारी भूमि–अधिकार, भूमि–अलगाव, ऋणग्रस्तता तथा आदिवासी प्रतिरोध के संबंध में पर्याप्त ऐतिहासिक एवं समाज–आर्थिक अध्ययन उपलब्ध हैं। तथापि, स्थायी बन्दोबस्ती को केवल राजस्व–व्यवस्था के रूप में देखने के बजाय उसके सामाजिक संरचना, आदिवासी सामुदायिक अधिकार, वर्ग–संबंध, कृषि अर्थव्यवस्था और भूमि–बाजार पर संयुक्त प्रभाव का अध्ययन अपेक्षाकृत कम हुआ है।

फैसल चौधरी (2024) चौधरी ने South Asia, the British Empire, and the Rise of Classical Legal Thought में औपनिवेशिक भारत की भूमि–व्यवस्था को संपत्ति–अधिकार और राज्य की राजस्व–आवश्यकताओं के संदर्भ में विश्लेषित किया। उनके अध्ययन का प्रमुख तर्क है कि ब्रिटिश शासन में भूमि को कानूनी संपत्ति के रूप में परिभाषित करने की प्रक्रिया ने पारंपरिक भूमि–अधिकारों को नए कानूनी ढाँचे में परिवर्तित किया। स्थायी बन्दोबस्ती तथा अन्य राजस्व व्यवस्थाओं में भिन्नताओं के बावजूद औपनिवेशिक शासन का मूल उद्देश्य भूमि से प्राप्त राजस्व तथा संपत्ति–अधिकारों को प्रशासनिक एवं कानूनी रूप से व्यवस्थित करना था। यह दृष्टिकोण छोटानागपुर में पारंपरिक सामुदायिक भूमि–अधिकारों पर औपनिवेशिक कानूनों के प्रभाव को समझने के लिए उपयोगी है।[6]

संजुक्ता दास गुप्ता (2020) संजुक्ता दास गुप्ता ने छोटानागपुर के पर्यावरणीय एवं सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन का अध्ययन करते हुए 1800 से 1950 के दशक तक के परिवर्तन को रेखांकित किया। उन्होंने दिखाया कि औपनिवेशिक काल में कृषि विस्तार, विशेषकर धान की खेती, वनों में कमी, रेलवे निर्माण तथा अन्य आर्थिक गतिविधियों ने क्षेत्र के प्राकृतिक एवं सामाजिक परिदृश्य को बदल दिया। इन परिवर्तनों ने आदिवासी समुदायों की पारंपरिक आजीविका को प्रभावित किया। यह अध्ययन स्थायी बन्दोबस्ती के प्रत्यक्ष राजस्व प्रभाव से आगे जाकर भूमि–उपयोग परिवर्तन और आजीविका के दीर्घकालिक परिणामों को समझने में महत्वपूर्ण है।[7]

संजुक्ता दास गुप्ता (2018) गुप्ता ने औपनिवेशिक शासन के दौरान सिंहभूम के हो समुदाय के सामाजिक संगठन और भूमि–अधिकारों में आए परिवर्तनों का विश्लेषण किया। उनके अनुसार ब्रिटिश कानूनों और प्रशासनिक व्यवस्थाओं ने पारंपरिक ग्राम नेतृत्व तथा सामुदायिक संबंधों को पुनर्गठित किया। विशेष रूप से भूमि–अधिकार और किरायेदारी की नई कानूनी श्रेणियों ने आदिवासी समाज के आंतरिक संगठन तथा बाहरी गैर–आदिवासी समूहों के साथ संबंधों को प्रभावित किया। इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक भूमि–व्यवस्था का प्रभाव केवल आर्थिक नहीं था, बल्कि उसने सामाजिक पदानुक्रम और सामुदायिक पहचान को भी प्रभावित किया।[8]

मिर्चा राइआनु (2018) राइआनु ने जमशेदपुर और छोटानागपुर में भूमि, कानून एवं औपनिवेशिक संप्रभुता के संबंध का अध्ययन किया। उनके अध्ययन में उल्लेख मिलता है कि 1793 की स्थायी बन्दोबस्ती को छोटानागपुर पठार के कुछ क्षेत्रों तक विस्तारित किया गया और इससे वहाँ की पारंपरिक खूँटकट्टी सामुदायिक भूमि व्यवस्था प्रभावित हुई। धीरे–धीरे ग्राम प्रधानों और स्थानीय आदिवासी शासकों की स्थिति जमींदार अथवा भूमि–स्वामी जैसी कानूनी श्रेणियों में पुनर्परिभाषित हुई। बाद में भूमि–अलगाव और साहूकारों के प्रभाव को नियंत्रित करने के लिए विभिन्न सुरक्षात्मक कानून बनाए गए। यह अध्ययन आपके विषय के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि यह स्थायी बन्दोबस्ती को आदिवासी भूमि–अधिकारों में परिवर्तन की व्यापक प्रक्रिया से जोड़ता है।[9]

संजुक्ता दास गुप्ता (2017) गुप्ता ने कोल्हान गवर्नमेंट एस्टेट में ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रयोगों का अध्ययन किया। उन्होंने बताया कि ब्रिटिश प्रशासन ने सिंहभूम के हो समुदाय के लिए ऐसी नीतियाँ विकसित करने का प्रयास किया जिनमें स्थानीय विशिष्टता तथा ब्रिटिश प्रशासनिक एकरूपता के बीच संतुलन स्थापित किया जा सके। इससे आदिवासी समाज और औपनिवेशिक प्रशासन के बीच संबंधों का नया स्वरूप विकसित हुआ। अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि छोटानागपुर में ब्रिटिश भूमि–नीति सभी क्षेत्रों में समान रूप से लागू नहीं हुई, बल्कि स्थानीय सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार उसके स्वरूप में परिवर्तन हुआ।[10]

संजुक्ता दास गुप्ता (2016) गुप्ता ने थ्तवउ त्मइमससपवद जव स्पजपहंजपवद में 1908 के छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम तथा कोल्हान के हो समुदाय के संबंध का अध्ययन किया। उनका निष्कर्ष है कि आदिवासी प्रतिरोध केवल विद्रोह या हिंसात्मक संघर्ष तक सीमित नहीं थाय उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आदिवासी समुदायों ने न्यायालयों और कानूनी प्रक्रियाओं के माध्यम से भी अपने भूमि–अधिकारों की रक्षा का प्रयास किया। 1908 के अधिनियम के बाद 1914–18 के बन्दोबस्ती कार्यों में हो काश्तकारों ने अपने खूँटकट्टी अधिकारों को कानूनी रूप से स्थापित करने का प्रयास किया।[11]

मुकेश कुमार श्रीवास्तव (2013) श्रीवास्तव ने मुंडारी खूँटकट्टी भूमि पर प्रथागत अधिकार की एक संस्था में मुंडा समाज की पारंपरिक भूमि व्यवस्था का विश्लेषण किया। उनके अनुसार खूँटकट्टी व्यवस्था केवल भूमि–स्वामित्व की व्यवस्था नहीं थी, बल्कि सामाजिक संगठन, सामुदायिक पहचान और पूर्वजों द्वारा जंगल साफ कर कृषि योग्य बनाई गई भूमि से जुड़ी एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था थी। उन्होंने तर्क दिया कि ब्रिटिश प्रशासकों ने इस व्यवस्था को अपने प्रशासनिक हितों के अनुरूप समझने का प्रयास किया, जिसके कारण इसके मूल सामुदायिक स्वरूप में परिवर्तन आया। यह अध्ययन स्थायी बन्दोबस्ती के सामाजिक प्रभाव को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है।[12]

मधुमिता बंद्योपाध्याय (1999) बंद्योपाध्याय ने 1850–1950 के बीच छोटानागपुर में गैर–आदिवासी प्रवास के जनसांख्यिकीय परिणामों का अध्ययन किया। उनके अनुसार औपनिवेशिक काल में क्षेत्र का व्यापक औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था से जुड़ाव हुआ और खनन तथा औद्योगिक गतिविधियों के कारण जनसंख्या में वृद्धि हुई। यद्यपि औद्योगीकरण एवं नगरीकरण से क्षेत्र के कुछ हिस्सों में आर्थिक विकास हुआ, लेकिन आदिवासी

समुदायों को वनों की कमी, भूमि–अलगाव, बेरोजगारी और ऋणग्रस्तता जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा।[13]

रमेश शरण, अमर कुमार सिंह एवं एस. एक्स. बत्रा (1999) इन्होने झारखंड क्षेत्र में आदिवासी भूमि–अलगाव की प्रक्रिया और स्वरूप का अध्ययन किया। अध्ययन में भूमि की बिक्री, बंधक तथा अतिक्रमण को भूमि–अलगाव के प्रमुख माध्यमों के रूप में रेखांकित किया गया। लेखकों ने यह भी बताया कि भूमि–अलगाव को समझने के लिए केवल कानूनी प्रावधानों को देखना पर्याप्त नहीं है, बल्कि ऋण, बाजार, साहूकारी और सामाजिक शक्ति–संबंधों को भी समझना आवश्यक है। इस अध्ययन से स्थायी बन्दोबस्ती के आर्थिक प्रभाव को भूमि–बाजार और ऋणग्रस्तता से जोड़ने का आधार मिलता है।[14]

पी. पी. महापात्र (1991) महापात्र ने Class Conflict and Agrarian Regimes in Chotanagpur, 1860–1950 में छोटानागपुर की कृषि अर्थव्यवस्था तथा वर्ग–संघर्ष का विश्लेषण किया। उन्होंने भूमि की उत्पादकता, लगान, कृषि संबंधों तथा विभिन्न कृषक वर्गों के बीच संबंधों को समझने का प्रयास किया। अध्ययन से संकेत मिलता है कि औपनिवेशिक बन्दोबस्ती प्रक्रियाओं ने कृषि संबंधों में नए वर्गीय तनाव पैदा किए। भूमि पर अधिकार, लगान तथा उत्पादन–अधिशेष के वितरण ने जमींदार, काश्तकार और कृषक समूहों के बीच संघर्ष को प्रभावित किया।[15]

उद्देश्य

- ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था, और संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला है, इसकी जानकारी प्राप्त करना।
- ब्रिटिश शासन, देश की आर्थिक और वाणिज्यिक स्थितियों के शोषण से जुड़ा था इसे ज्ञात करना ।
- ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय कृषि व्यवस्था, उद्योग और पारंपरिक शिल्पकला बुरी तरह प्रभावित हुए।
- ब्रिटिश सरकार भारत में कृषि को मुख्य रूप से इंग्लैंड के उद्योगों के लिए सस्ता कच्चा माल प्रदान करने वाले क्षेत्र के रूप में विकसित करना चाहती थी इसे ज्ञात करना ।
- ब्रिटिश सरकार की एकतरफा मुक्त व्यापार नीति ने भारतीय कारीगरों और दस्तकारों की आजीविका छीन ली। इसके परिणामस्वरूप भारतीय कुटीर उद्योग बुरी तरह प्रभावित हुए इसकी जानकारी प्राप्त करना ।

निष्कर्ष : निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश शासन ने भारत पर गहरा प्रभाव डाला। इसने भारत को आधुनिकता और प्रौद्योगिकी की ओर बढ़ने का अवसर दिया, लेकिन साथ ही हमारी अर्थव्यवस्था, संस्कृति, और समाज को नुकसान भी पहुंचाया। स्वतंत्रता के बाद भारत ने इन नकारात्मक प्रभावों से उबरने का प्रयास किया और एक मजबूत और आत्मनिर्भर राष्ट्र बनने की दिशा में कदम बढ़ाए। आज हमें ब्रिटिश शासन के सबक को समझते हुए अपने देश के विकास और प्रगति के लिए काम करना चाहिए।

संदर्भ सूची

1. रजनी कोठारी, ''डेमोक्रेसी विदाउट कनसेन्सस'', पॉलिटिक्स एण्ड द पीपुल, 2007, वोल. 2, पृ. 304–305
2. लैरी डायमांड एण्ड रिचार्ड गुंथर (संपा.), इंट्रोडक्शन,पॉलिटिकल पार्टीज एण्ड डेमोक्रेसी, बाल्टीमोरः द जॉन्स हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001.
3. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र, समकालीन विश्व एवं भारत, पटना, 2010, पृ0–94
4. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्रः बिहार, इतिहास एवं संस्कृति, पटना, 2008, पृ0–196
5. प्रसन्न कुमार चौधरी एवं श्रीकांत : पूर्वोद्धत, पृ0–14
6. चौधरी, फैसल (2024) दक्षिण एशिया, ब्रिटिश साम्राज्य और शास्त्रीय विधिक चिंतन का उदय, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ0–48
7. दास गुप्ता, संजुक्ता (2020) बंगाल की पश्चिमी सीमा में पर्यावरणीय परिवर्तन, स्वास्थ्य और रोग : 1800–1950 के दशक में छोटानागपुर, जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी, 62(4), 67–84।
8. दास गुप्ता, संजुक्ता (2018) औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत हो समाज में अधिकारों का दावा और संबंधों का पुनर्समायोजन, इन सर्च ऑफ द हिस्टोरियन क्राफ्ट : एसेज इन ऑनर ऑफ प्रोफेसर बी. बी. चौधरी, 407–434।
9. राइआनु, मिर्चा (2018) भूमि, कानून और संप्रभुताः एक भारतीय कंपनी नगर का अध्ययन, कम्पेरेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एंड हिस्ट्री, पृ0–103
10. दास गुप्ता, संजुक्ता (2017) आदिवासी प्रजा के लिए मातृभूमि : कोल्हान गवर्नमेंट एस्टेट में ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रयोगों का पुनर्पाठ, पृ0–124

11. दास गुप्ता, संजुक्ता (2016) विद्रोह से मुकदमेबाजी तक : छोटानागपुर काश्तकारी अधिनियम, 1908 और कोल्हान गवर्नमेंट एस्टेट के हो, आयरिश जर्नल ऑफ एंथ्रोपोलॉजी, 19(2), 31–45।
12. श्रीवास्तव, मुकेश कुमार (2013) मुंडारी खूँटकट्टी : भूमि पर प्रथागत अधिकार की एक संस्था, जर्नल ऑफ एंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, 13(2)।
13. बंद्योपाध्याय, मधुमिता (1999) औपनिवेशिक काल में छोटानागपुर क्षेत्र में गैर–आदिवासी आगमन के जनसांख्यिकीय परिणाम, 1850–1950 सोशल चेंज, 29(3–4)।
14. शरण, रमेश, सिंह, अमर कुमार, एवं बत्रा, एस. एक्स. (1999) बिहार के झारखंड क्षेत्र में आदिवासियों का भूमि–अलगावः प्रक्रिया एवं स्वरूप, सोशल चेंज, 29(3–4), 146–170।
15. महापात्र, पी. पी. (1991) छोटानागपुर में वर्ग–संघर्ष और कृषि व्यवस्थाएँ, 1860–1950, द इंडियन इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, 28(1), 1–42।

ग्रामीण विकास में नई कृषि रणनीति और हरित अर्थव्यवस्था की भूमिका

सूर्य कुमार*

परिचय (Introduction) -

भारत एक कृषि प्रधान देश है जहां लगभग 80 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में निवास करती है। इन ग्रामीणों का सम्पूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था कृषि आधारित है। ग्रामीण अर्थतंत्र के विकास एवं वैयक्तिक तथा सामाजिक सुधार हेतु अनेकानेक प्रयाकों के बावजूद भारतीय ग्रामीण विभिन्न प्रकार की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं से ग्रसित हैं। ग्रामवासी गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा, कुपोषण, भ्रष्टाचार, रुढ़िवादिता, आवश्यक सुविधाओं तथा वे अपना जीवन–यापन विषम परिस्थितियों में कर रहे है।

तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या ने खाद्यान उत्पादन बढ़ाने हेतु तत्काल और कठोर कार्रवाई करने की आवश्यकता पर बल दिया जिसकी परणिति हरित कांति के रूप में उभरकर सामने आई। मुख्य तौर पर हरित कांति देश में कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिये लागू की गई एक नीति थी। इसके तहत अनाज उगाने के लिये प्रयुक्त पारंपरिक बीजों के स्थान पर उन्नत किस्म के बीजों के प्रयोग को बढ़ावा दिया गया।

हरित कांति से देश में खाद्यान्न उत्पादन तथा खाद्यान्न गहनता दोनों में तीव्र वृद्धि हुई और भारत अनाज उत्पादन के मामले में आत्मनिर्भर हो सका। वर्ष 1968 में गेहूं का उत्पादन 170 लाख टन हो गया जा कि उस समय का रिकार्ड था तथा उसके बाद के वर्षों में यह उत्पादन लगातार बढ़ता गया। भारत में हरित कांति मोटे तौर पर गेहूं कांति है क्योंकि वर्ष 1967–68 और वर्ष 2003–04 के मध्य गेंहू के उत्पादन में तीन गुना से अधिक की वृद्धि हुई, जबकि अनाजों के उत्पादन में कुल वृद्धि केवल दो गुना थी।

हरित विकास आर्थिक विकास के एक काल्पनिक पथ का वर्णन करने के लिए एक शब्द है जो पर्यावरण की दृष्टि से टिकाऊ है। यह इस समझ पर आधारित है कि जब तक आर्थिक विकास एक प्रमुख लक्ष्य बना रहता है। हरित कांति के बाद कृषि में नवीन मशीनों जैसे– ट्रैक्टर, हार्वेस्टर, ट्यूबेल, पंप आदि का प्रयोग किया जाने लगा। इस प्रकार तकनीकी के प्रयोग से कृषि का स्तर बढ़ा तथा कम समय और श्रम में अधिक उत्पादन संभव हुआ। कृषि के मशीनीकरण के चलते कृषि हेतु प्रयोग होने वाली मशीनों के अलावा हाइब्रिड बीजों, कीटनाशकों, खरपतवारनाशी तथा रासायनिक उर्वरकों की मांग में तीव्र वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप देश में इससे संबंधित उद्योगों का अत्यधिक विकास हुआ।

भारत की अर्थव्यवस्थाओं में कृषि की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। कुल कार्य बल की 54.6 प्रतिशत आबादी कृषि और उससे संबद्ध क्षेत्र के कार्यकलापों में लगी हुई है (संगणना 2011) और वर्ष 2019–20 में देश के सकल मूल्य संवर्धन में इसकी भगीदारी 16.5 प्रतिशत रही है वर्तमान मूल्यों पर। कृषि क्षेत्र के महत्व को देखते हुए, भारत सरकार ने इसके सतत विकास हेतु कई कदम उठाए है। किसानों की आय में सुधार करने के लिए कदम उठाए गये हैं। इसके अलावा, कृषि के जोखिम कम करने के लिए वर्ष 2016 में एक स्कीम 'प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना' भी शुरू की गई है। 10000 एफपीओ के गठन और संवर्धन जैसी स्कीमें हाल ही में इस क्षेत्र को लाभान्वित करने के लिए भी शुरू की गई है।

कोबिड–19 महामारी की अवधि के दौरान प्रधानमंत्री किसान सम्मान निधि पीएम–किसान के तहत लगभग 9.36 करोड़ किसानों परिवारों को लाभान्वित किया गया और 40466 करोड़ रूपये की राशि जारा की गई। कोविद्ध–19 महामारी के मद्देनजर पीएम–किसान लाभर्थी किसानों को वित्तीय लाभ जारी करने पर विशेष बल दिया गया।

महिला किसान कृषि क्षेत्र और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कृषि, जो भारत में एकमात्र सर्वाधिक उत्पादन करने वाला क्षेत्र है और जीडीपी में महत्वपूर्ण योगदान दे रहा है, तेजी से महिला का कार्यक्षेत्र बनता जा रहा है। कृषि क्षेत्र में 80 प्रतिशत आर्थिक रूप से सक्रिय महिलाएं हैं ये इनमें से 33 प्रतिशत महिलाएं कृषि श्रमिक हैं। महिला मुख्य फसल उत्पादन, पशुधन उत्पादन, बागवानी, फसलोपरांत उत्पादन, कृषि सामाजिक वानिकी, मत्स्य पालन आदि सहित कृषिगत विकास में महत्वपूर्ण

* शोध छात्र, अर्थशास्त्र विभाग, हंडिया पी०जी० कालेज, हंडिया, प्रयागराज, उ०प्र०

भूमिका निभाती है। विभिन्न कृषि संगणनाओं के दौरान महिला प्रचालन धारकों की बढ़ती प्रतिशत देश में कृषि भूजोतों के प्रचालन और प्रबंधन में अधिकाधिक महिलाओ की भागीदारी को दर्शाती है।

विभिन्न फसलों के लिये न्यूनतम समर्थन मूल्य मएसपी व अन्य सब्सिडी सेवाओं का प्रावधान भी इसी समय शुरु किया गया। इसी कदम के फलस्वरुप किसानों को उनकी फसलों का उचित मिलना संभव हो सका। किसानों का दिये जाने वाले इस प्रोत्साहन मूल्य से वे नई कृषि तकनीकी अपनाने में सक्षम हुए।

हरित कांति तथा मशीनीकरण से उत्पादन में हुई बढ़ोतरी के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के नए अवसर विकसित हुए। हरित कांति की वजह से पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार तथा ओडिशा से लाखों की संख्या में मजदूर पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में रोजगार की तलाश में जाने लगे।

बाबू, जोशी आदि (2013) द्वारा प्रस्तुत लेख भारतीय कृषि की दशा पर एक सूक्ष्म अवलोकन प्रतीत होता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से बीसवीं शताब्दी तक कृषि के क्षेत्र में हुए व्यापक बदलाव जैसे–कृषि खाद्य वस्तुओं के आयातक से निर्यातक राष्ट्र बनने का सफर, हरित कान्ति से सदाबहार हरित कांति का सफर, कृषि क्षेत्र में परम्परागत नगण्य तकनीकि के प्रयोग से व्यापक एवं आधुनिक तकनीकि प्रयोग तक का सफर तय करने में उठाये गये व्यापक रणनीतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक नीतियों का समीक्षात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। चन्द, प्रसन्ना एवं सिंह (2011) ने भारतीय कृषि क्षेत्र में विभिन्न जोत वर्ग और कृषि उत्पादकता के बीच संबंधों का विश्लेषण किए है। इन्होने अपने इस अध्ययन में पाया है कि कृषि क्षेत्र की संवृद्धि के लिए फसल सघनता, उर्वरक का प्रयोग, उच्च उत्पादकता वाले (एचवाईवी) बीजों का प्रयोग, सिचाई सुविधाओं का विस्तार प्रमख रूप से उत्तरदायी है। अतः इन अर्थशास्त्रियों ने जोत के आकार व कृषि उत्पादकता के बीच संबंध जानने के लिए विभिन्न जोत आकार वर्ग के कृषकों द्वारा उपर्युक्त कृषि आगतों के प्रयोग का विश्लेषण किया है। चन्द (2010) ने अपने लेख में बताया कि कृषि क्षेत्र में संस्थागत परिवर्तन भूमि सुधार निवेश, आगतो को ठीक समय पर प्राप्ति, उन्नत तकनीकि, पर्यावरण अनुकूल, तकनीकि, सिचाई, व्यवस्था, कृषि उत्पाद कीमतें, कृषि सहायिकी आदि कृषि क्षेत्र की समृद्धि एवं उसकी उत्पादकता के लिए महत्वपूर्ण निर्धारक कारक है। उच्च उत्पादकता वाले बीज, संकर बीज जीन रावंद्वित फसलें कृषि में उन्नत तकनीकी को व्यक्त करने वाले प्रमुख प्राचल है। उन्नत तकनीकी का कृषि उत्पादन व उत्पादकता के साथ सीधा संबंध पाया जाता है। हिडे, अलाउद्दीन एवं राव (2010) कृषि की उत्पादकता की अभिवृद्धि पर एक सूक्ष्म अवलोकन प्रस्तुत करते है। इनके लेख में कृषि के बहु आगत निर्गत एवं कुछ साधन उत्पादकता का कृषि के विकास में योगदान पर प्रकाश डाला गया है। देब (2006) ने कृषि उद्योग व्यापार की शर्त के शोध प्रणाली से संबंधित समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था और प्रमुख राज्यों की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले इसके प्रभावों का परीक्षण एवं विश्लेषण किया है। देब ने अपने परीक्षण में पाया कि कृषि उद्योग व्यापार की शर्त कृषि एवं संबंद्ध क्षेत्र के उत्पादन एवं आय पर सार्थक (10 प्रतिशतं स्तर पर) एवं धनात्मक प्रभाव डालता है।

कृषि क्षेत्र में नई कृषि रणनीति और हरित अर्थव्यवस्था की निम्नकारणों से आवश्यक–

प्रथम करण – घरेलू मांग और आपूर्ति के बीच असंतुलन के संबंधित है। भारत कुछ वस्तुओं को अधिक मात्रा में एकत्रित कर रहा है और साथ–साथ खाद्य तेलों और दलहनों का भारी मात्रा में एकत्रित कर रहा है। उन फलों और सब्जियों का आयात भी बढ़ रहा है जिसे देश में उपजाया जा सकता है तथा जिससे अच्छी आय प्राप्त की जा सकती है। कारणों में विपणन व्यवस्था, फसलोपरात अवसंरचना, लाजिस्टिक की खराब स्थिति और दलहनों एवं तिलहनों से होने वाली आय में मारी जोखिम शामिल है।

दूसरा कारण – भारतीय कृषि की निर्यात प्रतिस्पर्धात्मकता का बेहतर बनाने की अतिआवश्यकता है। भारत की आबादी की वृद्धि कर घटती जा रही है जबकि कृषि की वृद्धि दर में रिकार्ड वृद्धि हुई है। आबादी की वृद्धि दर घटनें से कुछ हद तक कुछ खाद्य समूहों और कुछ खाद्य पदार्थ की घरेलू मांगों की वृद्धि दर में कमी आयी है। मांग और आपूर्ति के उमरतेपरिदृश्य के अनुसार भारत को आने वाले वर्षों में 20 से 25 प्रतिशत वृद्धिशील कृषि खाद्यउपज को विदेशी मंडियों में बेचने की आवश्यकता होगी। यह बिजनेस एज यूजुअलश परिस्थिति में संभव नहीं है जिसमें बिचौलियों, लघु मंडी लाट और उच्च लेन–देन लागतों की एक लंबी कड़ी शामिल है। हमारा देश अनाज एवं चीनी को भारी मात्रा में संग्रहित कर रहा है और हमारी उपज की खराब मुल्य प्रतिस्पर्धी होने के कारण विदेशी मंडियों में उनका निपटान करना मुश्किल होता जा रहा है।

तीसरा कारण– कृषि खंड जैसे बागवानी, दुग्ध एवं मात्स्यिकी में, जहां सरकार द्वारा मंडी हस्तक्षेप या तो नगण्य अथवा बहुत ही कम है. 4 से 10 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हो रही है। इसकी तुलना में अनाजों की वृद्धि दर, जहां एमएसपी और अन्य हस्तक्षेप काफी अधिक है, वर्ष 2011–12 के बाद 1.1 प्रतिशत

रही। यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है कि हाल में उदारीकृत विकृत व्यवस्था कृषिगत वृद्धि के लिए मंडी में सरकारी हस्तक्षेप और कार्यकलाप की तुलना में अधिक अनुकूल है।

चौथा कारण– भारत में लघु भू–जोतों की संख्या अधिक है, जिन्हें आमतौर पर कम अधिशेष प्राप्त होता है। इनमें से अधिकांश किसानों के पास स्केल, संसाधन नहीं होते और न ही उनके पास उच्च मूल्यों वाली फसलों को उपजाने के लिए मूल्य जोखिम लेने की क्षमता होती है। उनके लिए एक साथ तैयार थोड़ी मात्रा में फल एवं सब्जी मंडियो में ले जा कर बेचना आर्थिक रूप से व्यवहार्य नहीं होता यह फसलें एक ही समय में कटाई के लिए नही आती। यदि ऐसे किसान उत्पादन स्थल के समीप मंडी, जैसे दूध संग्रहण केंद्र, और मूल्य आश्वासन पाते है, तो वे उच्च मूल्यों वाली फसलों को बहुतायत मात्रा में उपजाने के लिए प्रोत्साहित होंगे।

पांचवा कारण–खाद्य प्रसंस्करण की वृद्धि को तेज करने की आवश्यकता है जिससे कि 1 बढ़ती मांगों को पूरा किया जा सके 2 कृषि विविधीकरण किया जा सके और 3 ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अधिक रोजगार का सृजन किया जा सके। इसके लिए प्रोसेसरों को वांछित गुणवत्ता की कच्ची सामग्री की वांछित समय में आवश्यकता होती है। अलग–अलग मंडियों से विभिन्न प्रकार के उत्पादों को छोटे–छोटे भागों में खरीदने से कच्ची सामग्रियों पर लागत बढ़ जाती है। इसके लिए प्रोसेसरों और उत्पादकों के बीच नई व्यवस्था और भागीदारी की आवश्यकता है।

ग्रामीण विकास में नई कृषि रणनीति और हरित अर्थव्यवस्था के द्वारा किया जाने वाला प्रयास–

1. जन–कल्याण – हरित अर्थव्यवस्था जन केन्द्रित होती है। इसका उद्देश्य, वास्तविक एवं साझी समृद्धि का निर्माण करना है यह ऐसी सम्पत्ति के निर्माण पर बल देती है जो न केवल वित्तीय हो बल्कि उसमें मानवीय, सामाजिक, भौतिक एवं प्राकृतिक पूँजी भी सम्मिलित हो।
2. न्याय – हरित अर्थव्यावस्था समावेशी तथा गैर–भेदभावपूर्ण होती है। यह लोगो के बीच की असमानताओं को कम करते हुए उन्हें समतापूर्ण अवसर प्रदान करने पर बल देती है। यह व्यवस्था एकजुटता एवं सामाजिक न्याय, सामाजिक सम्बंधों, मानव अधिकारों, श्रमिकों एवं अल्पसंख्यकों के अधिकारों तथा सतत् विकास के अधिकार का समर्थन करती है।
3. कुशलता एवं प्रचुरता – हरित अर्थव्यवस्था की अवधारणा सतत् उपभोग के साथ–साथ सत्त उत्पादन का भी समर्थन करती है। यह लोगों के कल्याण एवं गरिमापूर्ण जीवन के लिए आवश्यक आधारभूत वस्तुओं एवं सेवाओं के सामाजिक स्तर की पहचान करती है।

निष्कर्ष – ग्रामीण विकास में नई कृषि रणनीति और हरित अर्थव्यवस्था के प्रयोग से लोगो की आर्थिक, सामाजिक समस्या के साथ–साथ रोजगार की समस्या को भी हल किया जा सकता है। हरित अर्थव्यवस्था आर्थिक, पर्यावरणीय तथा सामाजिक हितों को बनाए रखने तथा उन्हें आगे बढ़ाने पर बल देती है। एक हरित अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक एवं निजी निवेश के द्वारा रोजगार एवं आय में वृद्धि इस प्रकार की आर्थिक गतिबवधियों, आधारभूत संरचनाओं एवं परिसम्पत्तियों के द्वारा की जाती है, जो कार्बन उत्सर्जन एवं प्रदूषण में कमी, ऊर्जा व संसाधन कुशलता में वृद्धि तथा जैवविविधता व पारितंत्र के संरक्षण को प्रोत्साहित करें।

नई राष्ट्रीय कृषि नीति की घोषणाओं के द्वारा, बढ़ती जनसंख्या की खाद्यान्न जरूरतों को पूरा करने में निरंतर प्रयास कर रहा है। जिसके फलस्वरूप कोविड–19 के इस महामारी में सरकार द्वारा सभी देशवाशीयों को निःशुल्क खाद्यान्न वितरण किया जा रहा है। जो यह संकेत करता है की कृषि अर्थव्यवस्था वाला देश नई कृषिरणनीति और हरित अर्थव्यवस्था के द्वारा ग्रामीण विकाश किया जा सकता है।

संदर्भ सूची –

1. वी. के. गोस्वामी (2016) – आधुनिक कृषि का सिद्धांत डिसकवरी पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ० 56
2. पींगली पी. एंड टेरी रनेय (2005) – फाम द ग्रीन रिओल्यूसन टू द गेन रिओल्यूसनः हाउ वील द पूर्व फेयर इसा वर्किंग पेपर न० 05–09
3. सिंह एस.पी. (2010) – एग्रीकल्चर अंडर नियोलिबरल पालिसी रिगीम इन अल्टरनेटीव
4. वार्षिक रिपोर्ट (2019–20) कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय भारत सरकार, कृषि भवन, नई दिल्ली
5. इकोनामिक सर्वे इंडिया टू डीकेड्स आफ नीयोलीबेरिज्म, डेनीस बुक रुद्र दत्त एवं केपी सुंदरम भारतीय अर्थव्यवस्था मिश्र एवं पूर भारतीय अर्थव्यवस्था।
6. अग्रवाल, ए. एन. 2021 – भारतीय अर्थव्यवस्था, नई दिल्ली : न्यू एज इंटरनेशनल पब्लिशर्स।

आलस्य, पढ़ाई में ऊब, काम से जी चुराने का कारण एवं निवारण

डॉ. सुनीता कुमारी*

सारांश

मनोविज्ञान के अनुसार बाल्यावस्था और किशोरावस्था अंतर्द्वंद्व की अवस्था होती है। इस अवस्था में बच्चों को संभालना कठिन होता है। पढ़ाई–लिखाई के प्रति रुचि–अरुचि और जीवन के प्रति उत्साह–निराशा जहां एक ओर दुश्चिंता की ओर बढ़ाते हैं। ऐसे में अभिभावकों की उपेक्षा उन्हें विद्रोही बना देती है। चूंकि इस अवस्था में उसका संपर्क बाहरी जगत से भी होने लगता है। यौन भावनाएं और विचार भी मन में हिलोर लेने लगते हैं। ऐसे में आलस्य, पढ़ाई के प्रति उत्साहहीनता, काम से जी चुराना आदि ऐसे व्यवहार हैं, जो उन्हें बिगड़ने की राह पर ले जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में बच्चे को कैसे सुधारें, एक विवेचन के अनुसार –

आलस्य आत्मसम्मान की कमी, दूसरों द्वारा सकारात्मक मान्यता की कमी, कम आत्मविश्वास से उत्पन्न अनुशासन की कमी, या गतिविधि में रुचि की कमी या उसकी प्रभावशीलता में विश्वास की कमी को दर्शा सकता है। आलस्य टालमटोल या अनिश्चितता के रूप में प्रकट हो सकता है। प्रेरणा संबंधी अध्ययनों से पता चलता है कि आलस्य प्रेरणा के स्तर में कमी, रुचि और आत्मविश्वास की कमी के कारण हो सकता है, जो बदले में अत्यधिक उत्तेजना या अत्यधिक आवेगों या विकर्षणों के कारण हो सकता है। ये डोपामाइन के स्राव को बढ़ाते हैं, जो पुरस्कार और आनंद के लिए जिम्मेदार न्यूरोट्रांसमीटर है। जितना अधिक डोपामाइन स्रावित होता है, उत्पादक और पुरस्कृत कार्यों को महत्व देने और स्वीकार करने के प्रति व्यक्ति की असहिष्णुता उतनी ही अधिक होती है। सत्यापन विफल यह असंवेदनशीलता तंत्रिका पैटर्न की सुस्ती की ओर ले जाती है और जोखिम धारणा के लिए जिम्मेदार मस्तिष्क के अग्रवर्ती इंसुला को नकारात्मक रूप से प्रभावित करती है।

परिचय

आलस्य छात्र जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है, जो बच्चों के जीवन की सारी क्रियाओं को प्रभावित करता है चूंकि छात्र जीवन निर्माण की अवस्था होती है, इसलिए यदि छात्र के जीवन में आलस्य घर कर लेता है, तो उसका निर्माण अवरुद्ध हो जाता है। आलसी बच्चे जीवन के किसी भी क्षेत्र में प्रगति नही कर पाते। आलस के कारण वे अवसर का लाभ नहीं उठा पाते हैं। यहां तक कि हाथ में आए हुए अवसरों का लाभ भी नहीं उठा पाते और फिर उनके पास पश्चात्ताप और आत्मग्लानि के सिवाय और कोई चारा नहीं रहता। कार्य के प्रति उत्साहहीनता के कारण वह हमेशा साथी मित्रों के मुंह की ओर देखते साक्षी है कि देश में जितने भी महान हुए है, वे सबके सब अपने अथक प्रयासों, मेहनत और कर्म से हुए हैं। आलस्य इनके जीवन से कोसों दूर रहा है। सच तो यह है कि उनकी महानता, उनकी क्रियाशीलता की ही देन थी।

कहते है कि पं. जवाहरलाल नेहरू केवल 2–3 घंटे सोते थे। आलस्य उन्हें छू तक नहीं सका था। जब देखो, तब वे हमेशा तैयार रहते थे। 'आराम–हराम है' जैसा नारा उनकी सक्रियता का प्रमाण है।

आशय यह है कि आलस्य बच्चों में पाया जाने वाला वह दोष है, जिसके कारण न तो वह पारिवारिक अपेक्षाओं को पूरा कर पाता है और न स्वयं अपना वर्तमान अथवा भविष्य ही बना पाता है। ऐसे बच्चे भला राष्ट्र का क्या हित करेंगे? एडीएचडी विशेषज्ञ कहते हैं कि एक साथ कई गतिविधियों में शामिल होने से ध्यान केंद्रित करने में विफलता, पूर्णतावाद और निराशावाद जैसी व्यवहार संबंधी समस्याएं हो सकती हैं। इन परिस्थितियों में, आलस्य एक नकारात्मक मुकाबला तंत्र के रूप में प्रकट हो सकता है, कुछ अनुभवों का मुकाबला करने के लिए स्थितियों से बचने की इच्छा और पूर्वकल्पित बुरे परिणाम जर्मनी के कॉन्स्टान्ज़ विश्वविद्यालय के जॉन ईस्टवुड इस बात से सहमत हैं कि आलस्य जैसी प्रतिकूल अवस्थाएं परिवर्तन लाने के लिए अनुकूल हो सकती हैं और यदि उन्हें बढ़ने दिया जाए तो हानिकारक भी हो सकती हैं। उनके अध्ययनों में एक दृष्टिकोण सहायक पाया गया हैं। "सचेत रहना और इससे बाहर निकालने के तरीके न खोजना, साथ ही साथ रचनात्मक और सक्रिय विकल्पों के लिए भी खुला रहना, यदि वे उत्पन्न हों।" वे बताते हैं कि बिना

* सहायक प्राध्यापक, एम0 डी0 डी0 एम0 कॉलेज, मुजफ्फरपुर (बिहार)

विराम के लगातार गतिविधियों में लगे रहने से विफलता के उतार–चढ़ाव हो सकते हैं, जिसके परिणामस्वरूप मानसिक स्वास्थ्य समस्याएं हो सकती हैं।

यह भी दिखाया गया है कि आलस्य व्यक्ति को क्रोध, चिंता, उदासीनता, मादक द्रव्यों के सेवन और अवसाद जैसी प्रतिक्रियाशील मानसिक स्वास्थ्य समस्याओं के प्रति उदासीन बना सकता हैं।

संबंधित अवधारणाएँ

- एसेडिया, उदासीनता की अवस्था।
- इच्छाशक्ति की कमी स्व–निर्देशित उद्देश्यपूर्ण गतिविधियों को शुरू करने और करने की प्रेरणा को कम कर देती है।
- एथिमहोर्मिया, प्रेरणा का विकार।
- अबुलिया, तंत्रिका संबंधी शारीरिक क्षति के साथ।
- प्रेरणाहीनता सिंड्रोम, आमतौर पर भांग के अत्यधिक सेवन के संदर्भ में होता है।
- कार्य टालना, कार्यों को पूरा करने में देरी करना।
- अनुत्पादक कार्य व्यवहार
- सीनियरिटिस, पढ़ाई के प्रति कम होती प्रेरणा है, जो उन लोगों को प्रभावित करती है जो अपनी पढ़ाई के अंतिम चरण में होते हैं।

अभिभावक स्वयं आलस्य से बचकर बच्चों को आलस्य से बचा सकते हैं। बच्चे को आलस्य से दूर रखने का मुख्य उपाय है उसमें काम के प्रति ऊब पैदा न होने दें।

पढ़ाई में ऊब के कारण

किसी भी छोटी–बड़ी कक्षा का परीक्षा परिणाम उठा कर देखें, तो सहज में ही इस निष्कर्ष पर पहुंच सकेंगे कि सभी बच्चों की रुचि पढ़ाई में एक जैसी नहीं होती। यदि कुछ समान्य से बहुत अच्छे हैं, तो कुछ केवल सामान्य हैं और कुछ केवल असामान्य। यही स्तर उनके भविष्य को बनाता है। उन्हें सफलता को होने से खुशी मिलता है।

मनोवैज्ञानिको के अनुसार पढ़ाई में ऊब के कारण ही लड़के पढ़ाई में पिछड़ जाता है जिसके कारण ही वे कक्षाओं से, स्कूल से भागते हैं। स्कूल स्टेशनों, तालाब, नदी, झील, पार्क आदि में व्यतीत करते है। जबकि पढ़ाई लिखाई की यह अवस्था, जो निर्माण की होती है, उन्हें बिगाड़ने लगती है। उनमें बिगाड़ के संस्कार डालने लगती है।

पढ़ाई में ऊब आज शिक्षा जगत् की सबसे बड़ी समस्या है और इसी ऊब के कारण करोड़ों रुपया अपव्यय हो रहा है, क्योंकि लगभग 30 से 40 प्रतिशत बच्चे पूर्व माध्यमिक कक्षाओं तक पहुंचते–पहुंचते ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। पढ़ाई में इस ऊब के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

1. रुचि में कमी, पढ़ाई जाने वाली पाठ्य सामग्री में नीरसता।
2. विद्यालयों का आकर्षण विहीन होना।
3. बस्ते का भारी–भरकम बोझ।
4. मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा न देना। अंग्रेजी के प्रति बढ़ता उत्साह, जो शीघ्र ही ज्ञानवरोध का कारण बन जाता है।
5. शिक्षा का रोजगार से संबद्ध न होना। पढ़ाई के प्रति बच्चों में आ गई अरुचि, ऊब, नीरसता को समाप्त करने के लिए अभिभावकों और शिक्षकों का संयुक्त प्रयास होना चाहिए। इसके लिए यह बहुत आवश्यक है कि बच्चों की मानसिकता का अध्ययन कर उन्हें प्रारंभ से ही ऐसे स्कूलों में प्रवेश दिलाएं, जहां बच्चे बड़े उत्साह, उमंग और प्रसन्नता के साथ पढ़ें–लिखें। विद्यालय का वातावरण दमघोंटू, ऊबाऊ न हो। इस संबंध में मनोवैज्ञानिकों ने कुछ आंतरिक और बाहरी प्रेरकों को अपनाने की सलाह दी है।

सामाजिक मान–प्रतिष्ठा की प्राप्ति पढ़े–लिखे लोगों का सामाजिक स्तर, वैचारिक उदारता आदि ऐसी अनेक बातें हैं, जो बच्चों को पढ़ने के लिए हमेशा प्रेरित करती हैं और बच्चा समाज में उस प्रतिष्ठा के लिए कड़ी मेहनत कर पढ़ता–लिखता है।

प्रशंसा, पुरस्कार, दंड, सामाजिक अवमानना का भय, हीनता, अपने समाज में दुसरों से पिछड़ जाने का भय आदि ऐसी अनेक बातें हैं, जो बच्चों को पढ़ने के लिए प्रेरित करती हैं। सच तो यह है कि ये प्रेरक तत्व ही बच्चों को शक्ति प्रदान करते हैं और बच्चे नई–नई सफलताओं के लिए प्रयासरत रहते हैं। ये प्रेरणाएं

ही व्यक्ति को संतुष्टि प्रदान करती हैं और अगली सफलता के लिए उन्हें और अधिक मेहनत करने की शक्ति देती हैं।

काम से जी चुराना

आलस्य, पढ़ाई में पिछड़ापन, आत्मविश्वास में कमी, उत्साह हीनता आदि के कारण कई लड़कों में हर काम से जी चुराने की आदत–सी बन जाती है। काम में जी चुराने की इस आदत का मनोवैज्ञानिक कारण अनुभवों की कमी का होना है। जिन बच्चों पर बाल्यकाल से ही पाबंदियां लगाकर उन्हें घर में कुछ भी नहीं करने दिया जाता, अथवा अति लाड़–प्यार के कारण उन्हें कुछ करने के अवसर नहीं दिए जाते, उनमें काम से जी चुराने की आदत पड़ जाती है। बाद में भी असफलताओं का भय, साधनों की कमी, प्रेरणाओं का अभाव बच्चों को कोई भी काम करने के लिए उत्साहित नहीं करते। ऐसे बच्चे अपनी यथास्थिति में ही संतुष्ट होने के प्रयास करते हैं और आगे नहीं बढ़ पाते।

इस संबंध में कहा जाता है कि जो बच्चे शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ्य, निरोग, ह्रष्ट–पुष्ट और सुंदर होते हैं, उनमें वीर–पूजा की प्रवृत्ति पाई जाती है और वे हर काम को बड़े उत्साह, लगन और निष्ठा के साथ आत्मविश्वास से पूरा कर लेते हैं। ऐसे बच्चे ही स्कूल और परिवार में शिक्षकों और अभिभावकों के स्नेह के पात्र बनते हैं, और विभिन्न कलाओं और खेलों में भी अपना स्थान बना लेते हैं। परिवार और समाज में अपनी पहचान भी निर्मित कर लेते हैं।

जो बालक चिड़चिड़े स्वभाव का होता है, बात–बात में रूठना–मचलता है, कभी हंसता नहीं, उसमें संवेगों की स्थिरता का गुण पाया जाता है। ऐसे बच्चों की किसी गतिविधि में रुचि नहीं होती। ये बच्चे संवेगात्मक रूप से अंसतुलित होकर अपने ही परिवार, समाज और स्कूल में समायोजन के अभाव में बिगड़ने लगते हैं। आशय यह है कि काम से जी चुराने की आदत बच्चे को प्रगतिशीलता की दौड़ से बाहर देती है। वह ललचाई नजरों से अपने अन्य साथियों का आगे बढ़ना तो देखता है, लेकिन स्वयं अपने लिए हीनभावनाएं ही ओढ़े रखता है

समाधान

1. बच्चों को अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के पर्याप्त अवसर दें। उनमें श्रेष्ठता को परिवार, स्कूल और समाज में सराहें। उन्हें सम्मान दिखाने में सहयोग करें।
2. बच्चों को मित्र बनाने–बनवाने में सहायता करें। उनके घर आने पर उनका स्वागत–सत्कार करें। उन्हें मान–प्रतिष्ठा दें।
3. बच्चों को सलाह दें िकवे अवसर का लाभ अवश्य उठाएं।
4. अवसर से लाभ उठाना एक अच्छा गुण है, जबकि अवसरवादी होना दोष है। अतः उन्हें इसका अंतर अवश्य बता दें।
5. बच्चों की पढ़ाई–लिखाई संबंधी कठिनाइयों का समाधान अपने स्तर पर करें। उन्हें किसी अच्छे स्कूल में प्रवेश दिला देने तक ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री न मानें। स्कूल से निरंतर संपर्क बना कर रखें। ,
6. बच्चों की अध्ययन संबंधी कठिनाइयां मित्रों के साथ बांटने के लिए प्रेरित करें। इसमें सबसे अच्छा समाधान उनके मित्र ही कर सकते हैं।
7. बच्चों का अधिकतम समय स्वाध्याय में व्यतीत हो, इसका ध्यान रखें।
8. काम करने से व्यक्ति की पहचान बनती है और महत्व बढ़ता है, इस सच बच्चों के सामने स्वयं आदर्श प्रस्तुत करें।
9. असफलता का भय बच्चे के मन में कभी न आने दें। असफलता तो सफलता की पहली सीढ़ी है।
10. बार–बार किया गया अभ्यास बच्चे को कुशल बनाकर सफलता के निकट ले आएगा। इसलिए पढ़ाई, या अन्य काम करने में बच्चों को निरंतर अभ्यास के लिए प्रेरित करते रहें।
11. अमेरिकी समाज में आम तौर पर कड़ी मेहनत और लगन को महत्व दिया जाता है। किसी को "आलसी" कहना एक बड़ा अपमान माना जाता है। फिर भी हममें से बहुत से लोग खुद पर और उससे भी ज्यादा दूसरों पर यह लेबल लगाने को तैयार रहते हैं।

ऐसा अनुमान है कि 2022 में लगभग 1.8 अरब वयस्क –यानी विश्व की कुल जनसंख्या का 31 प्रतिशत – शारीरिक रूप से पर्याप्त सक्रिय नहीं थे, जो 2030 तक बढ़कर 35 प्रतिशत हो सकता है। इसी बीच, गैलप के एक सर्वेक्षण में पाया गया कि वैश्विक स्तर पर 62 प्रतिशत कर्मचारी अपने काम में रुचि नहीं

रखते हैं, जो कम उत्पादकता और परिणामस्वरूप आलस्य की भावना में योगदान दे सकता है। और 75 प्रतिशत कॉलेज छात्र खुद को आदतन काम टालने वाला मानते हैं।

कुछ विशेषज्ञ आलस्य से जुड़ी कुछ आलोचनाओं को लोगों के व्यवहार में दोष डालने के बजाय, अनुपयोगी सांस्कृति दबावों और धारणाओं के संकेत रूप में देखते हैं। शिकागो के लोयोला विश्वविद्यालय में सामाजिक मनोवैज्ञानिक और क्लिनिकल एसोसिएट प्रोफेसर, **डॉ. डेवोन प्राइस** कहते हैं, "हमारी संस्कृति में यह धारणा बहुत पुरानी है और इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं कि लोग अंदर से 'आलसी' होते हैं और उन्हें काम करने के लिए दबाव डालना पड़ता है। यह धारणा प्यूरिटन सभ्यता से चली आ रही है, जिसमें वे मानते थे कि कड़ी मेहनत किसी व्यक्ति के नैतिक रूप से ईमानदार होने का संकेत है।"

डॉ0 प्राइस का कहना है कि "उत्पादकता" पर हमारे मौजूदा ज़ोर के साथ–साथ, कार्यस्थल की कार्यप्रणाली में बदलाव और हमेशा जुड़े रहने वाली मोबाइल तकनीकों ने आलस्य की हमारी परिभाषाओं को व्यापक बना दिया है। वे कहते हैं, "हम अपने खाली समय में भी मुक्त नहीं होते; हमसे लगातार आदर्श पेशेवर बने रहने की अपेक्षा की जाती है। इससे हम पर मानसिक रूप से बहुत बुरा असर पड़ता है और बर्नआउट का खतरा बढ़ जाता है। "

प्राइस का मानना है–जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक "आलस्य का अस्तित्व नहीं है" में विस्तार से बताया है – कि आलस्य की जो अवधारणा लोग समझते हैं, वह एक गलत धारणा है। वे कहते हैं, "जब लोग प्रेरणाहीन प्रतीत होते हैं, तो इसका कारण यह होता है कि वे थके हुए हैं, किसी आघात से गुज़रे हैं, उन्हें सहायता की आवश्यकता है, या उन्हें किसी कार्य में भाग लेने का कोई तार्किक प्रोत्साहन नहीं दिखता है।"

अन्य विशेषज्ञ आलस्य को लेकर इतने नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं रखते। कुछ का कहना है कि यह टालमटोल से संबंधित है, एक ऐसी घटना जिसे मनोविज्ञान ने स्पष्ट रूप से परिभाषित और अध्ययन किया है। यह शोध बताता है कि लोग कब, कैसे और क्यों आलस्यपूर्ण व्यवहार करते हैं।

निष्कर्ष

- हालांकि यह कोई नैदानिक शब्द या निदान नहीं है, लेकिन आलस्य को प्रेरणा की कमी, आराम को प्राथमिकता देने या किसी कार्य को करने से बचने से जुड़ा माना जाता है।
- आलस्य, या विशेष रूप से टालमटोल, मुकाबला करने के तंत्र, उम्र, वातावरण, सोशल मीडिया जैसे विकर्षणों, ऊर्जा, टालमटोल के आदत बन जाने या व्यक्तित्व की विशेषताओं से प्रभावित हो सकता है।
- हालांकि आलसी होना जरूरी नहीं कि आपके स्वास्थ्य के लिए बुरा हो, लेकिन टालमटोल से निपटने के कई तरीके हैं, जैसे कि कम काम करना, कार्यों के प्रति स्पष्ट होना, ध्यान भटकाने वाली चीजों से बचना सचेत रहना, खुद पर ज्यादा दबाव न डालना और कार्यों को आनंददायक बनाना।

संदर्भ

1. "संक्षिप्त कार्यवाही की एक अन्य शाखा शांति न्यायाधीशों के समक्ष की जाती है, ताकि संसद अधिनियम द्वारा अनेक अव्यवस्थित अपराधों के लिए निर्धारित विभिन्न छोटे आर्थिक जर्माने और शारीरिक दंड लगाए जा सकें; जैसे कि आम तौर पर गाली देना, शराबखोरी, आवारागर्दी, आलस्य और अन्य कई प्रकार के अपराध, जिनके लिए मुझे छात्र को पहले उद्धृत न्याय–पुस्तकों का संदर्भ देना होगा, और जिन्हें पहले न्यायालय में जूरी के फैसले द्वारा दंडित किया जाता था। "इग्लैंड के कानूनों पर टिप्पणियाँ, सर विलियम ब्लैकस्टोन।
2. स्लोका, मार्क (2004) "पेंट फैक्ट्री छोड़ना" हार्पर्स मैगज़ीन, नवंबर 2004।
3. ब्रायन, ओकॉनर (2018) आलस्यः एक दार्शनिक निबंध, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस
4. जॉर्डन, सारा (2003)। आलस्य की चिंताएँः अठारहवीं शताब्दी के ब्रिटिश के ब्रिटिश साहित्य और संस्कृति में आलस्य। लंदन आलस्य की चिंताएँः अठारहवीं शताब्दी के ब्रिटिश साहित्य और संस्कृति में आलस्य।
5. मास्टरसन, जॉन (31 अक्टूबर 2004)। "आलस्य की प्रशंसा में"। आयरिश इंडिपेंट । 1 जनवरी 2021 को पुनः प्राप्त।

◂◂ ▸▸

सोशल मीडिया और समकालीन हिंदी लेखनः स्वरूप, संवेदना और भाषा–संस्कृति का बदलता परिदृश्य

आदर्श सिंह*

शोध सार:-

प्रस्तुत शोध-पत्र समकालीन हिंदी साहित्य के विकासक्रम में जनसंचार के पारंपरिक और आधुनिक माध्यमों की भूमिका का विश्लेषणात्मक अध्ययन करता है। यह पत्र हिंदी लेखन के प्रारंभिक स्वरूप को परिभाषित करते हुए, लघु पत्रिकाओं, आकाशवाणी, दृश्य-श्रव्य माध्यमों तथा तत्पश्चात् डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म (सोशल मीडिया) तक के भाषिक व संवेदनात्मक यात्रा-वृत्त का परीक्षण करता है। शोध का मुख्य केंद्र यह समझना है कि किस प्रकार सोशल मीडिया ने हिंदी भाषा के लोकांतरण, अभिव्यक्ति के नए रूपों और भाषिक संरचना को प्रभावित किया है। साथ ही, यह शोध-पत्र साहित्यिक गुणवत्ता के क्षरण और जन-जुड़ाव के द्वंद्व का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

1. हिंदी लेखन की तात्विक परिभाषा और मुद्रित माध्यमों से रेडियो तक की विकास यात्रा

साहित्य केवल शब्दों का संयोजन या विचारों का संप्रेषण मात्र नहीं है, बल्कि वह किसी समाज की चेतना, उसकी युगीन पीड़ा और भाषिक संस्कृति का पुनरसृजन होता है। जब हम हिंदी लेखन को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं, तो इसे केवल व्याकरणबद्ध गद्य या पद्य की शास्त्रीय सीमाओं में कैद करके नहीं देखा जा सकता। हिंदी लेखन वस्तुतः भारत की बहुसांस्कृतिक संवेदना, लोक-जीवन के जीवंत संघर्षों और ऐतिहासिक परिवर्तनों की वह मौखिक व लिखित अभिव्यक्ति है जो खड़ी बोली के क्रमिक विकास के साथ परिपक्व हुई है। भारतेन्दु युग से लेकर आज तक हिंदी लेखन ने अपने रूप, शिल्प, भाषा और माध्यम में कई युगांतरकारी बदलाव देखे हैं।

परंपरागत रूप से हिंदी साहित्य की कसौटी उसकी शास्त्रीयता, अध्ययनशीलता, गंभीरता और मुद्रित माध्यम की प्रामाणिकता पर टिकी थी। इस पारंपरिक ढाँचे में 'लेखक' और 'पाठक' के बीच एक स्पष्ट और निश्चित दूरी हुआ करती थी, जहाँ संपादक की भूमिका एक सजग द्वारपाल (Gatekeeper) की तरह थी, जो यह तय करता था कि किस रचना में साहित्यिक मूल्य है और किसे जनमानस के सामने जाना चाहिए। परंतु जनसंचार के माध्यमों के जैसे-जैसे विस्तार हुए, साहित्य भी पुस्तकालयों और विद्वानों की गोष्ठियों से बाहर निकलकर सीधे आम जनता के दैनिक जीवन का हिस्सा बनने लगा।

हिंदी लेखन को जन-जन तक पहुँचाने और उसकी भाषा को मांजकर परिमार्जित करने में 19वीं और 20वीं शताब्दी के मुद्रित माध्यमों, विशेषकर साहित्यिक पत्रिकाओं की केंद्रीय भूमिका रही। भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा संपादित 'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' से लेकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' (1900) ने हिंदी गद्य की दिशा तय करने का काम किया। 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी भाषा को व्याकरणिक अनुशासन और एक सर्वमान्य मानकीकृत रूप मिला। इसके पश्चात् प्रेमचंद के 'हंस', अज्ञेय के 'प्रतीक', तथा 'कल्पना' जैसी पत्रिकाओं ने हिंदी लेखन को नए विषय-क्षेत्रों और आधुनिक संवेदना से जोड़ा। आगे चलकर बीसवीं सदी के छठे और सातवें दशक में उभरे 'लघु पत्रिका आंदोलन' ने हिंदी साहित्य को एक नया और विद्रोही मोड़ दिया। 'पहल', 'वसुधा', 'तद्भव', और 'कथादेश' जैसी पत्रिकाओं ने हिंदी गद्य को अभिजात्यवादी दायरे से उखाड़कर सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ के एकदम करीब ला खड़ा किया। इस दौर में पत्रिकाओं की

* दिल्ली विश्वविद्यालय, adarshsingh.lahar2001@gmail.com

भाषा अत्यंत विचारशील, गंभीर, तत्सम-प्रधान और विमर्शपरक थी। संपादक की सख्त कसौटी के कारण साहित्य की गुणवत्ता और प्रामाणिकता तो अक्षुण्ण बनी रहती थी, लेकिन इसने आम पाठक की सीधी भागीदारी को एक सीमा में बांधकर भी रखा।

20वीं शताब्दी के मध्य में रेडियो (आकाशवाणी) का आगमन हिंदी लेखन और भाषा के इतिहास में एक अप्रत्याशित और क्रांतिकारी मोड़ सिद्ध हुआ। रेडियो ने हिंदी को मुद्रण की कठोर सीमाओं से मुक्त कर पुनः उसकी मूल 'वाचिक परंपरा' (Oral Tradition) से जोड़ा। आकाशवाणी के माध्यम से हिंदी केवल पढ़े जाने की वस्तु नहीं रही, बल्कि वह सुनी, गुनी और महसूस की जाने वाली एक सजीव ध्वनि बन गई। चूँकि रेडियो का मूल उद्देश्य दूर-दराज के अनपढ़ और अर्द्ध-शिक्षित नागरिकों तक पहुँचना था, इसलिए इसने साहित्यिक हिंदी की शास्त्रीय जटिलता को तोड़कर 'हिंदुस्तानी' यानी हिंदी और उर्दू के सहज मिश्रण को अपनाया। धर्मवीर भारती, भगवतीचरण वर्मा, और मोहन राकेश जैसे दिग्गजों ने रेडियो के लिए नाटक और रूपक लिखे, जिससे हिंदी गद्य में ध्वनि-प्रभाव और जीवंत संवाद-शैली की नई संभावनाओं का जन्म हुआ। 'हवामहल' जैसे धारावाहिकों और आकाशवाणी के कवि सम्मेलनों ने हिंदी कविता को आम आदमी के दीवानखाने तक पहुँचा दिया।

रेडियो ने हिंदी भाषा को जो लचक, प्रवाह और वाचिक सुंदरता दी, उसने आगे चलकर टेलीविजन और डिजिटल मीडिया के लिए एक मजबूत भाषाई जमीन तैयार की। इसके बाद 1980 और 90 के दशक में टेलीविजन के प्रसार ने दृश्य-श्रव्य रूप को और अधिक गहरा किया, जहाँ 'रामायण', 'महाभारत', 'हम लोग', और 'तमस' जैसे धारावाहिकों के माध्यम से मनोहर श्याम जोशी जैसे साहित्यकारों ने पटकथा लेखन (Screenplay Writing) को साहित्य की एक वैध विधा के रूप में स्थापित कर दिया।

2. डिजिटल क्रांति और सोशल मीडिया: समकालीन हिंदी लेखन का स्वरूप और संवेदना

21वीं सदी में इंटरनेट, स्मार्टफ़ोन और सोशल मीडिया के अभ्युदय ने समकालीन हिंदी लेखन के पूरे परिदृश्य को पूरी तरह से बदलकर रख दिया है। फेसबुक, इंस्टाग्राम, एक्स (ट्विटर), ब्लॉग्स, और यूट्यूब जैसे डिजिटल प्लेटफ़ॉर्मों ने उस 'गेटकीपिंग' को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया जो सदियों से संपादकों और प्रकाशकों के हाथ में थी। अब कोई भी व्यक्ति अपनी बात, कविता या कहानी तुरंत लाखों पाठकों तक पहुँचा सकता है। सोशल मीडिया ने साहित्य का अभूतपूर्व लोकतंत्रीकरण किया है, जिससे हाशिए पर छूटे समाजों, स्त्रियों, दलितों और दूरदराज के अंचलों के रचनाकारों को अपनी आवाज़ सीधे दर्ज कराने का स्वतंत्र आकाश मिला है।

इस नए माध्यम ने साहित्य के शिल्प और स्वरूप को भी बुनियादी रूप से बदला है। सोशल मीडिया के 'शॉर्ट अटेंशन स्पैन' (कम समय में ध्यान खींचने की प्रवृत्ति) के कारण नए साहित्यिक रूपों का तेज़ी से विकास हुआ है। इसमें माइक्रो-फिक्शन (100-200 शब्दों की लघु कथाएँ), कारवां कथाएँ और चार-आठ पंक्तियों की 'इन्स्टा-पोएट्री' (Insta-Poetry) शामिल हैं, जिन्हें विज़ुअल आर्ट या ग्राफिक्स के साथ प्रस्तुत किया जाता है। गंभीर वैचारिक मुद्दों पर लंबे लेख अब पारंपरिक पत्रिकाओं के बजाय व्यक्तिगत ब्लॉग्स और डिजिटल साहित्यिक पोर्टल्स पर पढ़े जा रहे हैं।

इसके साथ ही 'नई वाली हिंदी' का उभार हुआ है, जिसे सत्य व्यास और दिव्य प्रकाश दुबे जैसे युवा रचनाकारों ने लोकप्रिय बनाया। इसमें वही भाषा लिखी जा रही है जो आज का युवा अपने दैनिक जीवन में बोलता है–जिसमें हिंदी के साथ अंग्रेजी शब्द (हिंग्लिश), उर्दू की रवानी और स्थानीय बोलियों का स्वाभाविक पुट है। देवनागरी लिपि के साथ-साथ रोमन लिपि में भी हिंदी प्रचुरता से लिखी जा रही है, जिसने पठन-पाठन की पहुँच को उन युवाओं तक बढ़ा दिया है जो देवनागरी पढ़ने में सहज नहीं हैं।

3. अवसर, चुनौतियाँ और निष्कर्ष

सोशल मीडिया ने जहाँ एक तरफ लेखक और पाठक के बीच की दूरी खत्म कर त्वरित संवाद स्थापित किया है, वहीं दूसरी तरफ कुछ गंभीर चिंताएँ भी खड़ी की हैं। सोशल मीडिया पर किसी रचना का साहित्यिक मूल्यांकन अब उसके वास्तविक मूल्य या वैचारिक गहराई के बजाय उस पर मिलने वाले 'लाइक', 'कमेंट्स' और 'शेयर्स' के आधार पर होने लगा है। इससे तात्कालिक, सतही और लोकलुभावन (Populist) लेखन को बढ़ावा मिला है।

इसके अलावा, देवनागरी लिपि के स्थान पर रोमन हिंदी का बढ़ता प्रयोग मानक व्याकरण और भाषा की शुद्धता के लिए एक बड़ा खतरा बनता जा रहा है। गंभीर पठन-पाठन की संस्कृति घट रही है और साहित्य भी एक प्रकार से 'फास्ट फूड' की तरह उपभोग किया जाने लगा है, जिससे रचनाओं की शेल्फ़-लाइफ़ (स्थायित्व) कम हो गई है।

निष्कर्ष:

निष्कर्षतः, हिंदी लेखन की यह ऐतिहासिक यात्रा मुद्रित पत्रिकाओं के अनुशासन से निकलकर, रेडियो की वाचिक सरसता और टीवी के दृश्य परिदृश्य से होती हुई सोशल मीडिया के डिजिटल महासागर तक पहुँची है। सोशल मीडिया ने समकालीन हिंदी लेखन को अभूतपूर्व गति, विविधता और पहुँच प्रदान की है। इसने यह सिद्ध कर दिया है कि हिंदी भाषा समय के साथ खुद को बदलने और ढालने में पूरी तरह सक्षम है। इस नए दौर की सबसे बड़ी चुनौती यह है कि हम अभिव्यक्ति की इस नई स्वतंत्रता और तकनीक की गति के बीच साहित्यिक गुणवत्ता, भाषाई गरिमा और व्याकरणिक निष्ठा को कैसे बचाकर रखते हैं। यदि समकालीन रचनाकार सोशल मीडिया की इस व्यापक पहुँच का उपयोग गंभीर विषयों और संवेदनशील भाषा के साथ करें, तो यह माध्यम हिंदी साहित्य के एक नए और समृद्ध युग का आधार बन सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची (References)

- द्विवेदी, महावीर प्रसाद (1903), सरस्वती (संपादकीय), इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
- भारती, धर्मवीर (1960), मानव मूल्य और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
- जोशी, मनोहर श्याम (2000), पटकथा लेखन: एक परिचय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
- राकेश, मोहन (1975), आषाढ़ का एक दिन और अन्य रेडियो नाटक, राजपाल एंड संस, दिल्ली।
- दुबे, दिव्य प्रकाश (2018), शर्तें लागू (नई वाली हिंदी का संदर्भ), हिंद युग्म, नई दिल्ली।
- सिंह, नामवर (2005), दूसरी परंपरा की खोज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
- शर्मा, रामविलास (1992), भारत की भाषा समस्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
- तिवारी, भोलानाथ (2010), हिंदी भाषा का इतिहास, भाषा विज्ञान संस्थान, दिल्ली।
- व्यास, सत्य (2016), बनारस टॉकीज, हिंद युग्म, नई दिल्ली।
- गुप्ता, बालमुकुंद (1905), शिवशंभु के चिट्ठे, भारत मित्र, कोलकाता।

मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था : कृषि, बाजार, व्यापार और राजस्व के अंतर्संबंधों का अध्ययन

खुशबु कुमारी*

सारांश

मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सामान्यतः कृषि-प्रधान व्यवस्था के रूप में देखा जाता है, किंतु उपलब्ध शोध-सामग्री यह स्पष्ट करती है कि 1526 ई. से 1707 ई. के मध्य बिहार का ग्रामीण आर्थिक जीवन केवल कृषि उत्पादन तक सीमित नहीं था। कृषि ग्रामीण अर्थव्यवस्था की केंद्रीय धुरी थी, परंतु इसके साथ पशुपालन, कुटीर उद्योग एवं दस्तकारी, स्थानीय हाट-बाजार, व्यापार, मुद्रा, साख तथा भूमि-राजस्व व्यवस्था का घनिष्ठ संबंध था। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य इसी बहुआयामी और अंतर्संबद्ध ग्रामीण आर्थिक संरचना को समझना है। बिहार की भौगोलिक विविधता—गंगा का मैदान, नदीय क्षेत्र तथा दक्षिणी पठारी और वन क्षेत्र—ने कृषि, परिवहन और व्यापार की क्षेत्रीय संभावनाओं को प्रभावित किया। गंगा तथा उसकी सहायक नदियाँ ग्रामीण उत्पादन को बाजारों और व्यापारिक केंद्रों से जोड़ने वाले महत्वपूर्ण मार्ग थीं। कृषि उत्पादन ग्रामीण परिवारों की आजीविका, खाद्य सुरक्षा तथा राज्य की राजस्व-व्यवस्था का आधार था, जबकि पशुधन ने कृषि-शक्ति, परिवहन, खाद्य और संपत्ति के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लोहार, बढ़ई, कुम्हार, बुनकर तथा अन्य ग्रामीण कारीगर कृषि और घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। हाट और स्थानीय बाजार ग्रामीण उत्पादकों, उपभोक्ताओं, कारीगरों तथा व्यापारियों के बीच विनिमय के केंद्र थे। पटना इन स्थानीय आर्थिक गतिविधियों को क्षेत्रीय और व्यापक व्यापारिक नेटवर्क से जोड़ने वाला प्रमुख केंद्र था। नमकशोरा जैसे उत्पादों ने बिहार के कुछ ग्रामीण उत्पादन क्षेत्रों को अंतरक्षेत्रीय तथा विदेशी व्यापार से जोड़ा। ग्रामीण वित्त में साहूकारी, महाजनी पूंजी, व्यक्तिगत साख, व्यापारिक अग्रिम, हुंडी और मुद्रा-विनिमय की भूमिका थी। दूसरी ओर राजस्व व्यवस्था ने कृषि अधिशेष को राज्य की वित्तीय शक्ति से जोड़ा। इस प्रकार मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था अवसरों और दबावों, निरंतरता और परिवर्तन तथा ग्रामीण और नगरीय संबंधों की एक जटिल एवं गतिशील संरचना थी।

मुख्य शब्द: मुगलकालीन बिहार, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, कृषि, पशुपालन, कुटीर उद्योग, हाट-बाजार, पटना, नमकशोरा, ग्रामीण साख, भूमि-राजस्व

1. प्रस्तावना

मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था भारतीय आर्थिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्ययन-विषय है। 1526 ई. से 1707 ई. की अवधि राजनीतिक पुनर्संरचना, प्रशासनिक विस्तार, कृषि उत्पादन, स्थानीय बाजारों तथा व्यापारिक गतिविधियों के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण रही। इस अवधि में बिहार को एक समान आर्थिक क्षेत्र के रूप में देखना उचित नहीं है, क्योंकि इसकी भौगोलिक संरचना, प्राकृतिक संसाधनों, परिवहन सुविधाओं तथा बाजारों तक पहुँच में क्षेत्रीय अंतर विद्यमान थे। गंगा का मैदान, नदीय क्षेत्र तथा दक्षिणी पठारी और वन क्षेत्र ग्रामीण आर्थिक गतिविधियों को अलग-अलग स्वरूप प्रदान करते थे।

मुगल प्रशासन के विस्तार ने ग्रामीण उत्पादन और राज्य की राजस्व व्यवस्था के बीच संबंध को अधिक व्यवस्थित किया। विशेष रूप से अकबर के काल में प्रशासनिक पुनर्गठन के बाद बिहार की भूमि, उत्पादन और राजस्व को प्रशासनिक दृष्टि से अधिक महत्व प्राप्त हुआ। ग्रामीण उत्पादन केवल स्थानीय उपभोग का साधन नहीं रहा, बल्कि उसका एक भाग राज्य की वित्तीय व्यवस्था से भी जुड़ गया।

इस अध्ययन का प्रमुख आधार यह विचार है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को किसी एक गतिविधि के आधार पर नहीं समझा जा सकता। कृषि उत्पादन के लिए पशुधन, श्रम और उपकरण आवश्यक थे; उपकरणों के लिए कारीगरों की आवश्यकता थी; उत्पादन के विनिमय के लिए हाट और बाजार आवश्यक थे; व्यापार के विस्तार के

* शोधार्थी, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

लिए परिवहन, मुद्रा और साख उपयोगी थे तथा कृषि अधिशेष का एक भाग राजस्व के रूप में राज्य तक पहुँचता था। इस प्रकार उत्पादन, विनिमय, बाजार, साख और राजस्व एक-दूसरे से जुड़े हुए थे।

अतः मुगलकालीन बिहार के ग्रामीण समाज को पूर्णतः आत्मनिर्भर अथवा केवल कृषि-आधारित समाज मानना ऐतिहासिक वास्तविकता को सीमित कर देगा। ग्रामीण और नगरीय अर्थव्यवस्था के बीच निरंतर वस्तु एवं आर्थिक संपर्क विद्यमान था और पटना जैसे व्यापारिक केंद्र इस संपर्क को व्यापक नेटवर्क से जोड़ते थे।

2. साहित्य समीक्षा

- **हबीब, इरफान (1963)।** *द एग्रेरियन सिस्टम ऑफ मुगल इंडिया (1556–1707)।* नई दिल्ली: एशिया पब्लिशिंग हाउस। इरफान हबीब का यह ग्रंथ मुगलकालीन कृषि व्यवस्था, भूमि संबंधों, कृषकों, उत्पादन तथा भू-राजस्व व्यवस्था के अध्ययन का महत्वपूर्ण स्रोत है। इसमें कृषि उत्पादन और राज्य की राजस्व व्यवस्था के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण किया गया है। लेखक के अनुसार भूमि एवं कृषि संबंध ग्रामीण समाज की आर्थिक संरचना को प्रभावित करते थे। यह अध्ययन मुगलकालीन बिहार में कृषि, कृषक, भूमि-राजस्व तथा ग्रामीण आर्थिक संबंधों को समझने में विशेष रूप से उपयोगी है।
- **मोरलैंड, डब्ल्यू. एच. (1929)।** *इंडिया एट द डेथ ऑफ अकबर: एन इकोनॉमिक स्टडी।* लंदन: मैकमिलन। डब्ल्यू. एच. मोरलैंड का यह अध्ययन अकबरकालीन भारत की आर्थिक संरचना, कृषि, व्यापार, मुद्रा, कीमतों तथा राज्य की वित्तीय व्यवस्था पर केंद्रित है। लेखक ने ग्रामीण उत्पादन को बाजार, व्यापार और मुद्रा व्यवस्था से जोड़कर देखा है। यह अध्ययन ग्रामीण अर्थव्यवस्था के व्यापक आर्थिक संबंधों को समझने में सहायक है। मुगलकालीन बिहार के हाट-बाजार, व्यापार, मुद्रा तथा ग्रामीण आर्थिक गतिविधियों के विश्लेषण में इसकी विशेष उपयोगिता है।
- **चंद्र, सतीश (2005)।** *मध्यकालीन भारत: सल्तनत से मुगलों तक, भाग II—मुगल साम्राज्य (1526–1748)।* नई दिल्ली: हर-आनंद पब्लिकेशन्स। सतीश चंद्र का यह ग्रंथ मुगलकालीन प्रशासनिक, राजनीतिक और आर्थिक संरचना के अध्ययन का महत्वपूर्ण स्रोत है। इसमें कृषि, भू-राजस्व, जमींदारों तथा राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था के पारस्परिक संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। लेखक ने ग्रामीण संसाधनों और राजस्व को मुगल राज्य की आर्थिक शक्ति से जोड़ा है। यह अध्ययन बिहार की कृषि एवं भू-राजस्व व्यवस्था को समझने में उपयोगी है।
- **मूसीवी, शिरीन (1987)।** *द इकोनॉमी ऑफ द मुगल एम्पायर: ए स्टैटिस्टिकल स्टडी, सी. 1595।* ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। शिरीन मूसीवी का यह अध्ययन मुगल साम्राज्य की आर्थिक संरचना का सांख्यिकीय एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इसमें जनसंख्या, कृषि, उत्पादन, आय तथा बाजार संबंधी पहलुओं का विश्लेषण किया गया है। अध्ययन से कृषि अधिशेष और बाजार व्यवस्था के संबंधों को समझने में सहायता मिलती है। मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण उत्पादन व्यवस्था, बाजार तथा व्यापारिक नेटवर्क के अध्ययन में यह विशेष रूप से उपयोगी है।
- **प्रकाश, ओम (1985)।** *द डच ईस्ट इंडिया कंपनी एंड द इकोनॉमी ऑफ बंगाल, 1630–1720।* प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस। ओम प्रकाश का यह ग्रंथ प्रारंभिक आधुनिक भारत में यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों और स्थानीय अर्थव्यवस्था के संबंधों का अध्ययन करता है। इसमें स्थानीय उत्पादन, व्यापारिक नेटवर्क तथा डच ईस्ट इंडिया कंपनी की आर्थिक गतिविधियों का विश्लेषण किया गया है। यह अध्ययन बिहार के नमकशोरा व्यापार, पटना के व्यापारिक महत्व तथा अंग्रेजी-डच व्यापारिक गतिविधियों को व्यापक क्षेत्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय व्यापार से जोड़कर समझने में सहायक है।

3. अध्ययन के उद्देश्य

इस अध्ययन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

- मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था की मूल संरचना को समझना।
- कृषि और पशुपालन के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करना।
- कुटीर उद्योग एवं दस्तकारी की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में भूमिका का विश्लेषण करना।
- ग्रामीण हाटों, बाजारों और व्यापारिक नेटवर्क के महत्व को स्पष्ट करना।
- पटना की ग्रामीण एवं क्षेत्रीय व्यापार में भूमिका का अध्ययन करना।

- नमकशोरा जैसे उत्पादों के माध्यम से ग्रामीण उत्पादन और व्यापक व्यापारिक संबंधों को समझना।
- ग्रामीण साख, साहूकारी और पारंपरिक वित्तीय साधनों की भूमिका का अध्ययन करना।
- कृषि उत्पादन और मुगल राज्य की राजस्व व्यवस्था के संबंध को स्पष्ट करना।
- ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सामाजिक प्रभाव तथा आर्थिक असमानता का विश्लेषण करना।
- 1526–1707 ई. के बीच निरंतरता और परिवर्तन की प्रकृति को समझना।

4. भौगोलिक एवं राजनीतिक आधार

बिहार की भौगोलिक विविधता ने उसकी ग्रामीण अर्थव्यवस्था को क्षेत्रीय स्वरूप प्रदान किया। गंगा तथा उसकी सहायक नदियाँ जल-संसाधन होने के साथ-साथ ग्रामीण बस्तियों, कृषि क्षेत्रों और बाजार केंद्रों को जोड़ने वाले प्राकृतिक मार्ग थीं। नदीय क्षेत्रों की उपजाऊ जलोढ़ भूमि कृषि के लिए महत्वपूर्ण थी, यद्यपि बाढ़ और जलभराव जैसी परिस्थितियाँ जोखिम भी उत्पन्न करती थीं। दक्षिणी बिहार की भौगोलिक परिस्थितियाँ इससे अलग थीं। इसलिए बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को एक समान क्षेत्रीय इकाई के रूप में देखना उचित नहीं है।

राजनीतिक स्तर पर 1526 ई. के बाद बिहार में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। बाबर के आगमन के बाद भी बिहार तत्काल स्थायी रूप से मुगल प्रशासन के अधीन नहीं आया। शेरशाह सूरी, हुमायूँ और फिर अकबर के काल की राजनीतिक प्रक्रियाओं ने बिहार के प्रशासनिक स्वरूप को प्रभावित किया। अकबर के काल में प्रशासनिक पुनर्गठन ने भूमि, उत्पादन और राजस्व को अधिक व्यवस्थित प्रशासनिक ढाँचे से जोड़ा। इससे ग्रामीण उत्पादन और राज्य के बीच आर्थिक संबंध मजबूत हुए।

5. कृषि : ग्रामीण अर्थव्यवस्था की केंद्रीय धुरी

कृषि मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मूल आधार थी। ग्रामीण परिवारों की आजीविका, खाद्य सुरक्षा और आर्थिक अस्तित्व कृषि से जुड़े थे। कृषि उत्पादन का उद्देश्य केवल घरेलू उपभोग नहीं था। घरेलू आवश्यकताओं, बीज और पशुचारे की पूर्ति के बाद उपलब्ध अधिशेष स्थानीय विनिमय अथवा बाजार में प्रवेश कर सकता था। कृषि एक बहु-चरणीय श्रम प्रक्रिया थी, जिसमें भूमि की तैयारी, जुताई, बुवाई, फसल की देखभाल, कटाई, मड़ाई, भंडारण तथा अगली फसल की तैयारी शामिल थी। इसलिए कृषि ग्रामीण श्रम और समय के संगठन का प्रमुख आधार थी।

कृषि की उत्पादकता प्राकृतिक परिस्थितियों से गहराई से जुड़ी थी। भूमि की प्रकृति, जल की उपलब्धता, नदियों की निकटता और वर्षा उत्पादन की संभावनाओं को प्रभावित करते थे। कृषि के लिए भूमि के अतिरिक्त श्रम, पशुधन, बीज तथा उपकरणों की आवश्यकता होती थी। इस कारण कृषि का संबंध ग्रामीण कारीगरों और अन्य आर्थिक गतिविधियों से भी था।

6. पशुपालन और कृषि का पारस्परिक संबंध

पशुपालन को कृषि का केवल सहायक क्षेत्र मानना उचित नहीं है। बैल जुताई तथा परिवहन में महत्वपूर्ण थे। गाय और भैंस से दूध तथा दुग्ध उत्पाद प्राप्त होते थे, जबकि बकरी और भेड़ ग्रामीण परिवारों के लिए उपयोग तथा आय दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो सकते थे। कृषि और पशुपालन के बीच पारस्परिक निर्भरता थी। कृषि से पशुओं के लिए चारा और भूसा उपलब्ध होता था, जबकि पशु कृषि कार्यों के लिए शक्ति प्रदान करते थे। गोबर का उपयोग खाद के रूप में किया जाता था। इस प्रकार दोनों क्षेत्रों के बीच संसाधनों का पुनर्चक्रण दिखाई देता है।

पशुधन ग्रामीण परिवार के लिए उत्पादक संपत्ति भी था। हालांकि सभी परिवारों के पास समान मात्रा में पशुधन नहीं रहा होगा। अधिक पशुधन वाले परिवार कृषि और परिवहन में अपेक्षाकृत सक्षम हो सकते थे, जबकि सीमित संसाधनों वाले परिवारों के लिए पशुधन का रख-रखाव चुनौतीपूर्ण हो सकता था।

7. कुटीर उद्योग एवं दस्तकारी

ग्रामीण अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित होते हुए भी कुटीर उद्योग और दस्तकारी से गहराई से जुड़ी थी। लोहार, बढ़ई, कुम्हार, बुनकर और अन्य कारीगर ग्रामीण जीवन की दैनिक तथा कृषि-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। कृषि उपकरणों का निर्माण और मरम्मत, घरेलू वस्तुओं का निर्माण, वस्त्र उत्पादन, तेल निष्कर्षण, चमड़े का काम तथा कृषि उपज का प्रसंस्करण जैसी गतिविधियाँ ग्रामीण आर्थिक जीवन का हिस्सा थीं। कृषि समाज की मांग कारीगरों के लिए बाजार उपलब्ध कराती थी, जबकि कारीगरों की सेवाएँ कृषि उत्पादन को सुचारु बनाए रखने में सहायक थीं।

इस प्रकार कृषक और कारीगर के बीच पारस्परिक आर्थिक निर्भरता थी। यह संबंध ग्रामीण श्रम-विभाजन और स्थानीय आर्थिक संगठन की महत्वपूर्ण विशेषता को दर्शाता है।

8. ग्रामीण हाट, बाजार और व्यापार

ग्रामीण हाट वस्तुओं की खरीद-बिक्री के स्थान मात्र नहीं थे, बल्कि ग्रामीण विनिमय व्यवस्था के महत्वपूर्ण केंद्र थे। कृषक अपनी उपज का एक हिस्सा स्थानीय हाटों में बेच या विनिमय कर सकते थे। कारीगर, व्यापारी और उपभोक्ता भी इन बाजारों से जुड़े थे। स्थानीय हाट बड़े बाजारों, कस्बों और नगरों से जुड़े हुए थे। इस नेटवर्क के माध्यम से ग्रामीण उत्पाद स्थानीय सीमाओं से बाहर क्षेत्रीय बाजारों तक पहुँच सकते थे। इसलिए बिहार के गाँवों को पूर्णतः आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयाँ मानना उचित नहीं है।

इस आर्थिक नेटवर्क को इस प्रकार समझा जा सकता है—

गाँव → हाट → कस्बा → बड़ा बाजार → व्यापारिक केंद्र

यह संरचना ग्रामीण उत्पादन को व्यापक आर्थिक व्यवस्था से जोड़ती थी।

9. नमकशोरा और विदेशी व्यापार

नमकशोरा मुगलकालीन बिहार की महत्वपूर्ण व्यापारिक वस्तुओं में शामिल था। सत्रहवीं शताब्दी में इसका संबंध स्थानीय उत्पादन से आगे बढ़कर व्यापक व्यापारिक नेटवर्क से जुड़ा। उपलब्ध शोध-सामग्री के अनुसार पटना नमकशोरा की खरीद, व्यापार और शोधण से संबंधित गतिविधियों का महत्वपूर्ण केंद्र था। आसपास के विस्तृत क्षेत्रों से प्राप्त कच्चा माल व्यापारिक नेटवर्क के माध्यम से पटना पहुँचता था। स्थानीय उत्पादक, व्यापारी, मध्यस्थ, पटना के बाजार और विदेशी व्यापारिक कंपनियाँ इस आर्थिक श्रृंखला से जुड़ते थे। अंग्रेज और डच व्यापारिक कंपनियों की सक्रियता ने बिहार के कुछ उत्पादों को अंतरक्षेत्रीय और विदेशी व्यापार से जोड़ने में भूमिका निभाई।

फिर भी पटना को नमकशोरा के संपूर्ण उत्पादन का केंद्र मानना उचित नहीं होगा। उसकी भूमिका मुख्यतः संग्रह, व्यापार और शोधण से संबंधित संपर्क-केंद्र के रूप में समझना अधिक उचित है।

10. ग्रामीण वित्त एवं साख

मुगलकालीन ग्रामीण बिहार में आधुनिक अर्थों वाली संगठित बैंकिंग व्यवस्था नहीं थी। ग्रामीण वित्त व्यक्तिगत साख, साहूकारी, महाजनी पूंजी, व्यापारिक अग्रिम, हुंडी, मुद्रा-विनिमय और अन्य पारंपरिक वित्तीय संबंधों पर आधारित था। कृषक को फसल तैयार होने से पहले बीज, उपकरण, पशुधन और श्रम जैसी आवश्यकताओं के लिए संसाधनों की आवश्यकता होती थी। राजस्व भुगतान अथवा घरेलू आवश्यकताओं के लिए भी नकदी की आवश्यकता पड़ सकती थी। ऐसे समय में साहूकार, महाजन और व्यापारी वित्तीय मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे।

साख ने उत्पादन और व्यापार की निरंतरता में सहायता की, लेकिन इसमें जोखिम भी निहित था। फसल खराब होने अथवा बाजार मूल्य प्रतिकूल होने पर ऋण चुकाना कठिन हो सकता था। अतः ग्रामीण साख आर्थिक सहायता के साथ-साथ संभावित आर्थिक दबाव का माध्यम भी थी।

11. राजस्व व्यवस्था और राज्य की वित्तीय शक्ति

कृषि उत्पादन और मुगल राज्य की वित्तीय शक्ति के बीच भूमि-राजस्व एक महत्वपूर्ण कड़ी था। कृषि अधिशेष का एक हिस्सा राजस्व के रूप में राज्य तक पहुँचता था। इस कारण कृषक का उत्पादन केवल परिवार की आजीविका से संबंधित नहीं था, बल्कि राज्य की वित्तीय व्यवस्था से भी जुड़ा था। राजस्व व्यवस्था के माध्यम से कृषक, जमींदार, स्थानीय अधिकारी और राज्य के बीच आर्थिक संबंध स्थापित होते थे। राजस्व की मांग और ग्रामीण उत्पादन क्षमता के बीच संबंध ग्रामीण परिवारों की आर्थिक स्थिति को प्रभावित कर सकता था।

हालाँकि प्रशासनिक स्रोतों में दर्ज राजस्व मांग को वास्तविक कृषि उत्पादन अथवा कृषक की वास्तविक आय के समान नहीं माना जाना चाहिए। स्रोतों की प्रकृति और सीमाओं को ध्यान में रखकर ही राजस्व संबंधी निष्कर्ष निकाले जाने चाहिए।

12. कीमत, श्रम और ग्रामीण जीवन

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में कीमतें ग्रामीण परिवारों की आर्थिक स्थिति को प्रभावित करती थीं। किसी कृषि उत्पाद की कीमत बढ़ने से कृषक की बाजार आय बढ़ सकती थी, किंतु उपभोक्ता और मजदूर के लिए वही वृद्धि जीवन-निर्वाह की कठिनाई बढ़ा सकती थी। इसलिए ग्रामीण आर्थिक जीवन को समझने के लिए उत्पादन के साथ कीमत और क्रय-क्षमता का अध्ययन आवश्यक है।

ग्रामीण श्रम भी आर्थिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण घटक था। कृषि के विभिन्न चरणों में श्रम की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त पशुपालन, दस्तकारी, परिवहन और व्यापार से भी रोजगार जुड़ा था। इस प्रकार ग्रामीण रोजगार केवल कृषि श्रम तक सीमित नहीं था।

13. ग्रामीण समाज और आर्थिक असमानता

ग्रामीण समाज आर्थिक रूप से एकरूप नहीं था। कृषक, मजदूर, कारीगर, पशुपालक, व्यापारी, साहूकार और जमींदार अलग-अलग आर्थिक भूमिकाएँ निभाते थे। भूमि, पशुधन, उत्पादन-साधनों तथा बाजार और साख तक पहुँच में अंतर के कारण ग्रामीण समूहों की आर्थिक स्थिति समान नहीं रही होगी।

ग्रामीण आर्थिक संबंधों में सहयोग और पारस्परिक निर्भरता के साथ-साथ आर्थिक दबाव भी मौजूद थे। जिन परिवारों के पास अधिक भूमि, पशुधन या उत्पादन साधन थे, उनकी आर्थिक क्षमता सीमित संसाधनों वाले परिवारों से भिन्न रही होगी। इसी प्रकार बाजार और साख तक असमान पहुँच ने ग्रामीण समाज के विभिन्न वर्गों के अनुभवों को अलग-अलग रूप दिया होगा।

14. ग्रामीण-नगरीय अंतर्संबंध

मुगलकालीन बिहार में गाँव और नगर दो पूर्णतः पृथक आर्थिक संसार नहीं थे। गाँव कृषि और ग्रामीण उत्पादन के केंद्र थे, जबकि नगर और कस्बे व्यापार, दस्तकारी, प्रशासन तथा उपभोग के केंद्रों के रूप में कार्य करते थे।

ग्रामीण उत्पाद नगरों तक पहुँचते थे और नगर ग्रामीण क्षेत्रों को विभिन्न वस्तुएँ तथा बाजार उपलब्ध कराते थे। पटना इस ग्रामीण-नगरीय आर्थिक संबंध का प्रमुख उदाहरण था। ग्रामीण अधिशेष, व्यापार, परिवहन, शिल्प उत्पादन और बाजारों ने नगरीय आर्थिक महत्व को प्रभावित किया। इस प्रकार नगरीकरण को ग्रामीण अर्थव्यवस्था से अलग प्रक्रिया के रूप में देखना उचित नहीं है।

15. 1526–1707 ई. में निरंतरता और परिवर्तन

1526–1707 ई. के दौरान ग्रामीण अर्थव्यवस्था में निरंतरता और परिवर्तन दोनों दिखाई देते हैं। कृषि, पशुपालन, स्थानीय दस्तकारी, पारिवारिक श्रम और पारंपरिक तकनीकों में निरंतरता बनी रही। दूसरी ओर प्रशासनिक संगठन, राजस्व व्यवस्था, बाजारों के विस्तार, मुद्रा-साख संबंधों और व्यापारिक नेटवर्क में परिवर्तन दिखाई देते हैं। ग्रामीण उत्पादन का कुछ हिस्सा स्थानीय उपभोग के लिए था, जबकि कुछ उत्पादन क्षेत्रीय तथा विदेशी व्यापार से जुड़ सकता था। इसलिए इस अवधि को न तो पूर्ण स्थिरता और न ही केवल परिवर्तन की दृष्टि से समझना उचित है। इसकी विशेषता पारंपरिक आर्थिक संरचनाओं और विकसित होते बाजार-संबंधों का सह-अस्तित्व थी।

16. ग्रामीण अर्थव्यवस्था की अंतर्संबद्ध संरचना

मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को निम्न आर्थिक श्रृंखला के माध्यम से समझा जा सकता है—

भूमि → कृषि उत्पादन → पशुधन एवं श्रम → कृषि उपकरण → अधिशेष → हाट एवं बाजार → व्यापार → मुद्रा एवं साख → राजस्व → राज्य की आर्थिक शक्ति

इस श्रृंखला का प्रत्येक चरण दूसरे चरण पर निर्भर था। कृषि के लिए पशुधन और उपकरण आवश्यक थे; उपकरणों के लिए कारीगर आवश्यक थे; उत्पादों के विनिमय के लिए बाजार और परिवहन आवश्यक थे; व्यापार के लिए मुद्रा और साख उपयोगी थे तथा कृषि अधिशेष से राज्य को राजस्व प्राप्त होता था।

अतः ग्रामीण अर्थव्यवस्था के अलग-अलग घटकों का पृथक अध्ययन करने के बजाय उनके पारस्परिक संबंधों को समझना अधिक उपयुक्त है। यही अंतर्संबंध इसे एक बहुस्तरीय और गतिशील ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था बनाते हैं।

17. प्रमुख निष्कर्ष

अध्ययन से निम्न प्रमुख निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

- कृषि मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था की केंद्रीय धुरी थी, किंतु ग्रामीण अर्थव्यवस्था केवल कृषि तक सीमित नहीं थी।
- पशुपालन कृषि का अभिन्न पूरक था और पशुधन कृषि-शक्ति, परिवहन, खाद्य तथा संपत्ति का साधन था।
- कुटीर उद्योग और दस्तकारी ग्रामीण जीवन तथा कृषि उत्पादन की आवश्यकताओं से गहराई से जुड़ी थी।
- ग्रामीण हाट और बाजार ग्रामीण विनिमय की महत्वपूर्ण संस्थाएँ थे।

- बिहार के गाँव पूर्णतः आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयाँ नहीं थे।
- पटना ग्रामीण और क्षेत्रीय व्यापारिक नेटवर्क का महत्वपूर्ण संपर्क-केंद्र था।
- गंगा तथा अन्य नदी मार्गों ने परिवहन और व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- नमकशोरा जैसे उत्पादों ने बिहार के कुछ ग्रामीण उत्पादन क्षेत्रों को व्यापक तथा विदेशी व्यापार से जोड़ा।
- ग्रामीण वित्त व्यक्तिगत साख, साहूकारी, महाजनी पूंजी, अग्रिम और मुद्रा-विनिमय जैसी पारंपरिक व्यवस्थाओं पर आधारित था।
- भूमि-राजस्व ने कृषि उत्पादन को मुगल राज्य की वित्तीय शक्ति से जोड़ा।
- बाजार, कीमत, राजस्व और ऋण ने ग्रामीण परिवारों के लिए अवसरों के साथ आर्थिक दबाव भी उत्पन्न किए।
- ग्रामीण समाज आर्थिक रूप से विषम था; भूमि, पशुधन और बाजार तक पहुँच में अंतर था।
- ग्रामीण और नगरीय अर्थव्यवस्थाएँ परस्पर निर्भर थीं।
- 1526–1707 ई. के बीच पारंपरिक आर्थिक संरचनाओं में निरंतरता के साथ प्रशासन, बाजार, मुद्रा, साख और व्यापार में परिवर्तन हुए।
- मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को उत्पादन, विनिमय, वित्त और राजस्व की अंतर्संबद्ध व्यवस्था के रूप में समझना अधिक उपयुक्त है।

18. निष्कर्ष

मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान होते हुए भी बहुआयामी और गतिशील थी। कृषि इसका मूल आधार थी, लेकिन इसकी उत्पादकता पशुधन, श्रम, उपकरण और कारीगरों से जुड़ी थी। कृषि उत्पादन का अधिशेष स्थानीय हाटों और बाजारों में पहुँच सकता था तथा कुछ वस्तुएँ व्यापक व्यापारिक नेटवर्क से जुड़ सकती थीं। पटना ने ग्रामीण उत्पादन और क्षेत्रीय व्यापार के बीच महत्वपूर्ण संपर्क-केंद्र की भूमिका निभाई, जबकि नमकशोरा जैसे उत्पादों ने स्थानीय उत्पादन को विदेशी व्यापार से जोड़ने में योगदान दिया।

ग्रामीण वित्त ने उत्पादन, उपभोग, व्यापार और राजस्व भुगतान के बीच समयगत अंतर को पूरा किया, किंतु ऋण संबंधों में आर्थिक दबाव की संभावना भी निहित थी। दूसरी ओर भूमि-राजस्व ने ग्रामीण उत्पादन को मुगल राज्य की वित्तीय संरचना से जोड़ा। इससे स्पष्ट होता है कि राज्य और ग्रामीण समाज के संबंधों को केवल प्रशासनिक दृष्टि से नहीं, बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी समझना आवश्यक है।

समग्र रूप से मुगलकालीन बिहार की ग्रामीण अर्थव्यवस्था को **कृषि, पशुपालन, दस्तकारी, बाजार, व्यापार, मुद्रा, साख और राजस्व के परस्पर जुड़े हुए तंत्र** के रूप में देखा जा सकता है। यह अर्थव्यवस्था न तो पूर्णतः आत्मनिर्भर थी और न ही पूर्णतः बाजार-आधारित। इसमें स्थानीय उत्पादन और उपभोग के साथ क्षेत्रीय तथा व्यापक व्यापारिक संबंध सह-अस्तित्व में थे। 1526–1707 ई. की अवधि में इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता पारंपरिक ग्रामीण संरचनाओं की निरंतरता तथा बाजार, प्रशासन, मुद्रा, साख और व्यापारिक नेटवर्क में क्रमिक परिवर्तन का समन्वय थी।

संदर्भ सूची

- चंद्र, सतीश। (2005)। *मध्यकालीन भारत: सल्तनत से मुगलों तक, भाग II: मुगल साम्राज्य (1526–1748)*। हर-आनंद पब्लिकेशन्स। पृ. 86–104।
- हबीब, इरफान। (1963)। *मुगल भारत की कृषि व्यवस्था (1556–1707)*। एशिया पब्लिशिंग हाउस। पृ. 1–18।
- हबीब, इरफान। (1999)। *मुगल भारत की कृषि व्यवस्था, 1556–1707* (द्वितीय संशोधित संस्करण)। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ. 55–73।
- मोरलैंड, डब्ल्यू. एच. (1929)। *अकबर की मृत्यु के समय भारत: एक आर्थिक अध्ययन*। मैकमिलन। पृ. 17–36।
- मोरलैंड, डब्ल्यू. एच. (1923)। *अकबर से औरंगजेब तक: भारतीय आर्थिक इतिहास का अध्ययन*। मैकमिलन। पृ. 31–49।
- मूसीवी, शिरीन। (1987)। *मुगल साम्राज्य की अर्थव्यवस्था: लगभग 1595 का एक सांख्यिकीय अध्ययन*। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ. 19–42।
- मूसीवी, शिरीन। (2015)। *मुगल भारत में जनसंख्या, कराधान और व्यापार*। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ. 89–108।

- प्रकाश, ओम। (1985)। *डच ईस्ट इंडिया कंपनी और बंगाल की अर्थव्यवस्था, 1630–1720*। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ. 101–123।
- प्रकाश, ओम। (1998)। *पूर्व-औपनिवेशिक भारत में यूरोपीय वाणिज्यिक उद्यम*। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ. 72–91।
- रिचर्ड्स, जे. एफ. (1993)। *मुगल साम्राज्य*। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ. 57–76।
- रायचौधरी, टी., एवं हबीब, इरफान (संपा.)। (1982)। *भारत का कैम्ब्रिज आर्थिक इतिहास: खंड I, लगभग 1200–लगभग 1750*। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ. 235–258।
- सुब्रह्मण्यम, संजय। (1990)। *वाणिज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था: दक्षिण भारत, 1500–1650*। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ. 14–32।
- हबीब, इरफान। (2016)। *मुगल साम्राज्य का एटलस: विस्तृत टिप्पणियों, ग्रंथसूची एवं अनुक्रमणिका सहित राजनीतिक और आर्थिक मानचित्र*। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ. 28–45।
- अबुल फ़ज़ल। (1977)। *आइने-अकबरी* (एच. ब्लॉखमैन एवं एच. एस. जरेट, अनुवादक)। लो-प्राइस पब्लिकेशन्स। पृ. 23–48।
- अबुल फ़ज़ल। (1949)। *अकबरनामा* (एच. बेवरिज, अनुवादक)। एशियाटिक सोसाइटी। पृ. 314–330।

पर्यावरण संरक्षण में युवाओं की भूमिका

निहारिका सिंह*

सारांश

पर्यावरण मानव जीवन का आधार है। शुद्ध वायु, जल, भूमि, वन, पेड़–पौधे तथा अन्य प्राकृतिक संसाधन जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। वर्तमान समय में पर्यावरण प्रदूषण, वनों की कटाई, जल प्रदूषण तथा जलवायु परिवर्तन जैसी समस्याएं विश्व के सामने एक बड़ी चुनौती बन चुकी हैं। इस स्थिति में युवाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। युवा वर्ग समाज का सबसे सक्रिय, ऊर्जावान तथा जागरूक वर्ग होता है। यदि युवा पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरू क हो जाएं तो समाज में बड़े स्तर पर सकारात्मक परिवर्तन लाया जा सकता है।

प्रस्तावना

पर्यावरण का अर्थ है हमारे चारों ओर का वह प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण जिसमें हम रहते हैं। पर्यावरण में वायु, जल, भूमि, वन, पेड़–पौधे, पशु–पक्षि तथा अन्य जीव–जंतु शामिल हैं। मानव जीवन की सभी आवश्यकताएं पर्यावरण से ही पूरी होती हैं। परन्तु आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण तथा बढ़ती जनसंख्या के कारण पर्यावरण पर दबाव बढ़ रहा है।

आज के समय में प्रदूषण एक गम्भीर समस्या बन गया है। शहरों में वायु प्रदूषण, नदियों में जल प्रदूषण तथा धरती पर प्लास्टिक प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। इस समस्या के समाधान के लिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जिम्मेदारी समझनी होगी। विशेष रूप से युवाओं को इस कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी।

पर्यावरण संरक्षण में युवाओं का महत्व

युवा किसी भी राष्ट्र का भविष्य होते हैं। उनमें नए विचार, ऊर्जा तथा कार्य करने की क्षमता अधिक होती है। यह वर्ग समाज में जागरूकता उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के विद्यार्थी पर्यावरण संरक्षण से संबंधित कार्यक्रमों में भाग ले सकते हैं। वे वृक्षारोपण, स्वच्छता अभियान, जल संरक्षण तथा प्लास्टिक मुक्त अभियान जैसे कार्यों में अपना योगदान दे सकते हैं।

वृक्षारोपण में भूमिका

पर्यावरण संरक्षण का सबसे सरल तथा महत्वपूर्ण उपाय वृक्षारोपण है। पेड़ हमों वायु में ऑक्सीजन प्रदान करते हैं तथा कार्बन डाइऑक्साइड को कम करने में सहायक होते हैं।

युवा अपने घर, विद्यालय तथा आस–पास के क्षेत्रों में पेड़ लगाने के अभियान चला सकते हैं। केवल पेड़ लगाना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उनकी देखभाल करना भी आवश्यक है।

जल संरक्षण में भूमिका

जल जीवन के लिए अनिवार्य है। परन्तु आज स्वच्छ जल की समस्या बढ़ती जा रही है। बढ़ती जनसंख्या तथा जल के दुरूपयोग के कारण भविष्य में जल की कमी एक बड़ी समस्या बन सकती है।

युवा जल को बचाने के लिए लोगों को जागरू क कर सकते हैं। नलसे अनावश्यक रूप से पानी बरने से रोकना, वर्षा जल का संरक्षण तथा जल के सही उपयोग के प्रति जागरूकता फैलाना अत्यंत आवश्यक है।

* नेट – समाजशास्त्र

प्लास्टिक प्रदूषण को कम करने में भूमिका

प्लास्टिक पर्यावरण के लिए एक बड़ी समस्या है। प्लास्टिक बहुत धीरे–धीरे नष्ट होता है और इस कारण धरती, जल तथा जीव–जंतुओं पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

युवा प्लास्टिक के उपयोग को कम करके पर्यावरण संरक्षण में योगदान दे सकते हैं। कपड़े के थैले का उपयोग, एक बार उपयोग होने वाली प्लास्टिक से बचाव तथा प्लास्टिक के उचित निपटान की आदत आवश्यक है।

स्वच्छता के प्रति जागरूकता

स्वच्छ पर्यावरण से ही स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता है। यदि हमारे घर, गलियां, सड़के तथा सार्वजनिक स्थान स्वच्छ रहें तो बहुत सी बीमारियों से बचा जा सकता है।

युवा स्वच्छता अभियान में भाग लेकर समाज के अन्य लोगों को भी प्रेरित कर सकते हैं। स्वच्छता केवल सरकार की जिम्मेदारी नहीं है, बल्कि यह प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है।

प्रौद्योगिकी तथा सामाजिक माध्यम का उपयोग

आज के डिजिटल युग में युवाओं के पास सामाजिक माध्यम के रूप में एक शक्तिशाली माध्यम है। वे पर्यावरण संरक्षण से संबंधित जानकारी लोगों तक पहुंचा सकते हैं।

सोशल मीडिया के माध्यम से वृक्षारोपण, जल संरक्षण, स्वच्छता तथा प्रदूषण के विरूद्ध जागरूकता अभियान चलाये जा सकते हैं। इस प्रकार प्रौद्योगिकी का सही उपयोग पर्यावरण संरक्षण के लिए बहुत उपयोगी हो सकता है।

शिक्षा का महत्व

पर्यावरण संरक्षण के लिए शिक्षा अत्यंत आवश्यक है। जब तक लोग पर्यावरण की समस्याओं को नहीं समझेंगे, तब तक उनका समाधान सम्भव नहीं है।

विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में पर्यावरण शिक्षा को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। विद्यार्थियों को व्यावहारिक रूप से भी पर्यावरण संरक्षण के कार्यों से जोड़ना चाहिए।

निर्देश तथा सुझाव

पर्यावरण संरक्षण के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी समझे। युवाओं को विशेष रूप से निम्नलिखित कार्यों पर ध्यान देना चाहिए–

1. अधिक से अधिक पेड़ लगाएं और उनकी देखभाल करें।
2. पानी का दुरूपयोग न करें।
3. प्लास्टिक के उपयोग को कम करें।
4. अपने आस–पास स्वच्छता रखें।
5. अन्य लोगों को पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूक करें।

निष्कर्ष

पर्यावरण संरक्षण वर्तमान समय की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकताओं में से एक है। यदि पर्यावरण सुरक्षित रहेगा तभी मानव जीवन का भविष्य सुरक्षित रहेगा। इस कार्य में युवाओं की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है।

युवा अपनी ऊर्जा, ज्ञान तथा जागरूकता के माध्यम से समाज में बड़ा परिवर्तन ला सकते हैं। वृक्षारोपण, जल संरक्षण, स्वच्छता तथा प्लास्टिक मुक्त समाज की दिशा में किया गया उनका प्रयास देश के भविष्य को बेहतर बना सकता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि पर्यावरण संरक्षण केवल सरकार का कार्य नहीं, बल्कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति की सामूहिक जिम्मेदारी है। इस जिम्मेदारी को निभाने में युवाओं का योगदान भविष्य के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

संदर्भ

1. पर्यावरण संरक्षण से संबंधित सामान्य पुस्तकें।
2. पर्यावरण अध्ययन एवं प्रदूषण, विविध लेख।
3. भारतीय पर्यावरण संरक्षण से संबंधित शैक्षिक सामग्री।

◀◀ ▶▶